रससिद्धान्त के अनालोचित पक्ष

UNREVEALED ASPECTS OF RASA THEORY

ब्रजमोहन चतुर्वेदी

[illegible]

COMPLIMENTARY COPY

रस सिद्धान्त के अनालोचित पक्ष

डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी

AJANTA PUBLICATIONS
अजन्ता पब्लिकेशन्स (इण्डिया)

रस सिद्धान्त के अनालोचित पक्ष

डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी

COMPLIMENTARY COPY·

प्रकाशक :
एस० बलवन्त
अजन्ता पब्लिकेशन्स (इण्डिया)
दिल्ली-७

वितरक :
अजन्ता बुक्स इण्टरनेशनल
१, यू० बी० जवाहर नगर, बंगलो रोड, दिल्ली-११०००७

प्रथम संस्करण: १९७८

मूल्य ४०-००

© डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी

अमर प्रिंटिंग प्रेस (शाम प्रिंटिंग एजेंसी)
८/२५ डबल स्टोरी, विजय नगर, दिल्ली-११०००९

UNREVEALED ASPECTS OF
THE RASA THEORY (Poetics)

Dr. B.M. Chaturvedi

COMPLIMENTARY COPY

धन्या नगरी काशी धामान्नपूर्णाविश्वनाथयोः ।
वसतिर्या विबुधानामनादिकालात्स्वयं याता ॥१॥

बालशास्त्रिणस्तस्यां वैयाकरणशिरोमणिभूताः ।
स्युः शिष्याश्चापि तेषां तात्यादामोदरौ शिवश्च ॥२॥

शास्त्री शिवः कुमारो ज्ञातः साक्षाच्छिवस्य रूपम् ।
वैयाकरणकेसरीति ख्यातो दामोदरः शास्त्री ॥३॥

शिष्यास्तेषां बहवो यद्यप्यासन्नुत्तमोत्तमाः ।
सर्वातिशायिनस्तेष्वभूवन् महाशयाभिधाः ॥४॥

रामयशस्त्रिपाठी चासीत्तेषां हि कुलनाम ।
कीर्तिपताकाश्चैषां दिक्षु विदिक्ष्वपि शतशः शिष्याः ॥५॥

अरुन्धती वसिष्ठस्येव पत्नी तेषामम्बैवास्माकम् ।
परिपूर्णा स्नेहमूर्तिः साक्षाद्वानुकम्पा शरीरिणी ॥६॥

शिवधामावाप्ताभ्यां पुण्यश्लोकगुरुभ्याम् ।
समर्पयति श्रद्धया कृतिमिमां व्रजमोहनः ॥७॥

विनियोग

रससिद्धान्त भारतीय साहित्यिक समीक्षा का चरमोत्कर्ष है। 'कला के लिये कला' तथा 'उपदेश के लिए कला' दोनों ही सिद्धान्तों का सम्यक् निर्वाह तो होता ही है कविता की 'निरङ्कुशता' एवं 'प्रतिबद्धता' दोनों की संगति भी यथावत् बैठ जाती है। आदर्श, चमत्कार, औचित्य, नैतिकता एवं मानव-संवेदना की निष्पत्ति के नियामक तत्त्व के रूप में स्वीकृति रससिद्धान्त के जीवन्त होने का पुष्कल प्रमाण है।

रस ही एक ऐसा तत्त्व है जिसकी उपलब्धि गुण, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति अनुमिति यहाँ तक कि दोष प्रभृति काव्य के आधायक प्रायः सभी तत्त्वों के रूप में होती है। इसे काव्य का स्वरूपाधायक तत्त्व कहे जाने का यही अभिप्रायः है। रस के लिये अङ्गी, संज्ञी, जीवित एवं आत्मा की अभिव्यक्तियाँ भी इसकी सर्वतत्त्वव्यापिता को ही दृष्टि में रखकर की गई है। इस प्रकार रस का इतिहास इतना बड़ा हो गया है कि इसमें समग्र साहित्य-शास्त्र ही समाविष्ट हो जाता है।

रस तत्त्व एवं सिद्धान्त के स्वतंत्र रूप से निरूपण करने की परम्परा ने रस को लेकर एक स्वतंत्र प्रस्थान का भी निर्माण कर दिया है जिसने यद्यपि इसके विविध पक्षों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं विशद विवेचन प्रस्तुत कर इस विषय पर विपुल साहित्य की सृष्टि की है जो संस्कृत सहित भारत की प्रायः सभी भाषाओं तथा अंग्रेजी के माध्यम से निरन्तर परिवर्धित होता जा रहा है तथापि अभी भी उसके अनेक पक्ष ऐसे हैं जो या तो एकदम अछूते हैं अथवा उनके साथ पूर्ण न्याय नहीं हो पाया है। प्रस्तुत ग्रन्थ उन्हीं के उदघाटन की दिशा में एक प्रयास है जिसमें काव्यरस की शाब्दबोधविषयता, अलौकिकता एवं उसके मनोविज्ञान का निरूपण सर्वथा नवीन रीति से हुआ है। 'रसानुभूति के पर्याय' एवं 'रसराज' नामक पक्ष भी प्रायः इसी कोटि के हैं। शेष में से 'रसों की संख्या' एवं रस की काव्यात्मता ऐसे पक्ष हैं जिनके साथ अभी तक पूर्ण न्याय नहीं हुआ है। इसके साथ 'रससिद्धान्त के विकास का इतिहास' एवं आधुनिपरिप्रेक्ष में उसका मूल्याङ्कन समीक्षात्मक पद्धति से उपस्थापित किया गया है इसी अभिप्राय से यहाँ अनालोचित पद का प्रयोग किया गया है जिसमें प्रतिषेध पर्युदास है या प्रसज्य इसका निर्णय सुधी पाठक ही करें तो अच्छा है।

काव्यरस पर लिखे गये अपने कुछ गवेषणात्मक निबन्धों का भी उपयोग मैंने इस पुस्तक में किया है जो अनिवार्य था। आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य में उपलभ्यमान रसविषयक विवेचन के लिये मैंने आचार्य काका कालेलकर एवं डा० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'भारतीय काव्य सिद्धान्त', डा० मनोहर काले के प्रकाशित शोध-ग्रन्थ 'आधुनिक हिन्दी मराठी में काव्यशास्त्री अध्ययन' तथा डा० सुरेन्द्र वारलिंगे की पुस्तक 'सौन्दर्यतत्त्व और काव्यसिद्धान्त' की सहायता ली है जिसके लिये इन सबके प्रति अपना आभार व्यक्त करना परमकर्तव्य समझता हूँ। इनके अतिरिक्त उन सबके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करने में मुझे परम आह्लाद का अनुभव हो रहा है जिनकी अनन्त शुभकामनायें इस ग्रन्थ के प्रणयन एवं प्रकाशन के साथ जुड़ी हुई हैं।

शरत् पूर्णिमा
२०३४

ब्रजमोहन चतुर्वेदी
संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

विषयानुक्रम

विनियोग	vii-viii
१. प्रथम पक्ष : साहित्यानुशीलन एवं रस	**१-१५**
साहित्य और लोकतत्त्व	१
औचित्य स्थापना	३
घटनाओं की सार्थकता	४
कवि-विवक्षा	६
रचना-शैली	७
काव्यविधाओं की एकता	८
साहित्य में सौन्दर्य	१०
काव्यानुभूति	१३
२. द्वितीय पक्ष : रससिद्धान्त के विकास का इतिहास	१६-२७
३. तृतीय पक्ष : काव्यरस की शाब्दबोधविषयता	२८-३६
४. चतुर्थ पक्ष : रसानुभूति के पर्याय	३७-५१
विश्रान्ति	३७
निष्पत्ति	३८
आस्वाद	४१
चर्वणा	४५
भोग	४७
५. पञ्चम पक्ष : रसमनोविज्ञान	५२-६६
चितवृतियाँ	५८
विधान	६२
विकास	६३
विस्तार	६४
क्षोभ	६५
विक्षेप	६५
६. षष्ठ पक्ष : रसों की संख्या	६७-८०
७. सप्तम पक्ष : रसराज	८१-१०४
(क) वीर रस ही रसो में राजा	८१
(ख) रसराज शृङ्गार	८८
(ग) शान्त की रसराजता	९४
(घ) करुण ही सर्वातिशायी रस	९७
(ङ) भक्ति-रस की मूर्धन्य स्थिति	१०१

८. अष्टम पक्ष : रस काव्य के अन्य तत्त्वों के रूप में	**१०५-११३**
(क) अलंकार के रूप में	१०५
(ख) गुण के रूप में	१०८
(ग) ध्वनि के रूप में	१०९
९. नवम पक्ष : काव्यात्मा रस	**११४-१४३**
काव्य का व्यक्तीकरण	११४
आत्मा पद के विविध अर्थ	११७
काव्य की आत्मा का प्रश्न	११८
रस को काव्यात्मता की प्राप्ति	१२२
रस के काव्यात्मता की विविध व्याख्यायें	१२७
(क) रस ही काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व	१२८
(ख) रस, काव्य का असाधारण धर्म	१३१
(ग) रस, काव्य का संज्ञी	१३३
(घ) रस, काव्य-कला का चरम लक्ष्य	१३६
(ङ) रस, ज्ञानप्राप्ति का सरलतम उपाय	१४०
१०. दशम पक्ष : काव्यरस की अलौकिकता	**१४४-१६४**
काव्यानुभूति की कोटियाँ	१४४
रसानुभूति की विलक्षणता	१४५
रसानुभूति की अलौकिकता	१४७
(अ) भरत की साक्षी	१४७
(इ) आनन्दवर्धन	१४८
(उ) भट्टनायक	१५०
(ऋ) अभिनवगुप्त	१५२
(ऌ) महिमभट्ट	१५६
(ए) भोज	१५७
(ओ) मम्मट	१५८
(ऐ) विश्वनाथ	१६१
(औ) पण्डितराज जगन्नाथ	१६२
११. एकादश पक्ष : रससिद्धान्त : आधुनिक परिप्रेक्ष	**१६५-१७८**
नामपदानुक्रमणी	**१७९-१८८**

रस सिद्धान्त के अनालोचित पक्ष

१

साहित्यानुशीलन एवं रस

साहित्य एक बहुत व्यापक विषय है। प्रत्येक भाषा एवं देश में साहित्य के अध्ययनाध्यापन की अपनी स्वतन्त्र परम्परायें विकसित हैं। पर साहित्यिक अध्ययन के कुछ ऐसे भी पक्ष हैं जो प्रायः सभी प्रकार के साहित्य के लिए समान हैं। यहां पहिले हम उन्हीं की चर्चा करेंगे अनन्तर संस्कृत साहित्य एवं रस का विशेष रूप से विवेचन उसकी अपनी विकसित परम्पराओं के अनुरूप किया जायगा।

साहित्य और लोकतत्त्व

भरतनाट्यशास्त्र में नाट्य की परिभाषा करते हुए कहा है—

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥[1]

यहाँ नाट्य पद साहित्य एवं लोक पद जीवन के लिए प्रयुक्त हुआ है। साहित्य जीवन का ही प्रतिफलन है, इस बात को साहित्य समीक्षा के आरम्भ काल में ही पहिचान लिया गया था, जिसकी साक्षी नाट्यशास्त्र की उपर्युक्त कारिका है। यशस्तिलकचम्पू में काव्य को एक वृक्ष बताया है जिसकी तीन जड़ें, दो प्रकार का तना, पाँच शाखायें, चार पत्ते, नव छायाएं तथा दस प्रकार की भूमियाँ होती हैं। वहीं यह भी कहा है कि जो इस वृक्ष को जानता है वही काव्य को यथावत् समझ सकता है।

त्रिमूलकं द्विधोत्थानं पञ्चशाखं चतुश्छदम्।
योऽगं वेत्ति नवच्छायं दशभूमिं स काव्यवित् ॥[2]

काव्य के तीन स्रोत हैं, लोक, वेद (विज्ञान) एवं अध्यात्म (दर्शन), उत्थान भूमि से ऊपर उठे हुए भाग अर्थात् को तने को कहते हैं जो हीर और छाल से बना होता है। काव्य का तना है शब्दार्थ। इसमें अर्थ हीर है तो छाल शब्द जो उसे अपने में छुपाये रहता है। काव्यवृक्ष की पाँच शाखायें वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली, लाटी और दाक्षिणात्या रीतियाँ हैं। नागरिका, उपनागरिका, परूषा और कोमला नामक वृत्तियां चार प्रकार के पत्ते हैं जिनसे वृक्ष ढका रहता है।

---

१. नाट्यशास्त्र १।११६

२. यशस्तिलकचम्पू ३।२७४

नवों प्रकार के रस ही काव्य वृक्ष की छाया हैं जिनका सुख सभी सामाजिक को सुलभ होता है । यह छाया जिस भूमि पर टिकती है वे गुण हैं जो दश प्रकार के होते हैं ।

साहित्य के मूलाधार अर्थात् उद्‌भावक तत्त्व हैं लोक, वेद तथा अध्यात्म जिनका उल्लेख व्यक्ति विवेक में स्पष्ट रूप से हुआ है—

लोको वेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम् ।[3]

यहाँ लोक से सामाजिक जीवन, वेद से विज्ञान तथा अध्यात्म से दार्शनिक चिन्तन का ग्रहण होता है ।

यद्यपि काव्यप्रकाशकार मम्मट ने साहित्य और जीवन की तुलना करते हुए ब्रह्मा की कृति जीवन से पार्थक्य में ही कवि की कृति साहित्य की महत्ता बताई है—

'नियतिशक्त्या नियतरूपा सुखदु:खमोहस्वभावा परमाण्वाद्युपादान-कर्मासहकारिकारणपरतन्त्रा षड्‌रसा न च हृद्यैव तैः तादृशी ब्रह्मणो निर्मिति निर्माणम् । एतद् विलक्षणा तु कविवाङ्‌निर्मितिः । अतएव जयति ।[4]

तथापि काव्य के कारणों का उन्मेष करते हुए भामह प्रभृति पूर्ववर्ती आचार्यों की तरह ही उन्होंने भी काव्य के निर्माण में लोकतत्त्व की महिमा को स्वीकार किया है—

लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य ।[5]

कहने का आशय यह है कि चूंकि लोक अर्थात् जीवन ही साहित्य की आधारशिला है इसलिए जब भी साहित्य के अनुशीलन का प्रश्न उठता है, जीवन का समक्ष उपस्थित हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है, वह साहित्य चाहे किसी देश, किसी काल या किसी व्यक्ति की रचना क्यों न हो ।

साहित्य वस्तुत: जीवन को समझने एवं उसे समुचित रूप से भोगने का एक उत्तम प्रयास है। इसमें निरूपित घटनाएं साभिप्राय एवं सार्थक होती हैं, जो जीवन के प्रति तर्क एवं युक्तिपूर्ण स्वस्थ दृष्टिकोण बनने में योग देती हैं। साहित्यकार किसी बात को अनायास नहीं कहता, न ही कोई घटना दैवयोग से काव्य में निरूपित हो जाती है। कवि की वाणी को नियतिकृत-नियम से रहित कहे जाने का यही तात्पर्य है ।

---

३. व्यक्तिविवेक पृ० ७
४. काव्यप्रकाश १।१ (वृत्ति)
५. वही १।३ (वृत्ति)

व्यक्ति के जीवन में शुभ एवं अशुभ अनामंत्रित आते हैं जिन्हें पाश्चात्य साहित्य में गुड एवं इविल कहा गया है। हम इन्हें भाग्यायत्त कहकर अपने को समझा लेते हैं जब शुभाशुभात्मक इन भावों का अपने क्रियाकलाप से मेल नहीं बिठा पाते। पर साहित्य की शुभाशुभविकल्पना तो कर्मभावान्वयापेक्षी ही होती है। उसमें घटनाओं की परस्पर संगति बिठालना ही होता है। तभी साहित्य भावी पीढ़ी के लिए सर्वकर्मानुदर्शक का काम करता है। नाट्यशास्त्र में ही कहा है—

भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् ॥[६]

इसलिए साहित्य की व्याख्या करते समय जीवन के प्रति गजनिमीलन नहीं होना चाहिए। उसमें प्रतिफलित कर्मभावानुकीर्तन का ऊहापोह साहित्यालोचन की प्रथम सोपान है। आचार्य भामह की तो स्पष्ट घोषणा है कि जिस चरित की लोकजीवन में अधिकाधिक व्यापकता नहीं है अर्थात् जो जन-जीवन को प्रेरणा नहीं दे सकता वह काव्य के लिए सर्वथा अनुपयोगी है। किसी की मात्र स्तुति के लिए काव्यरचना सर्वथा निरर्थक एवं हेय है—

यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयैष्येते ।
न चाभ्युदयभाक्तस्य मुधादौ ग्रहणं स्तवे ॥[७]

इस प्रकार काव्य की ऐसी व्याख्या करना कि उसमें प्रतिबिम्बित जीवन अर्थात लोकतत्व उभर कर समझ आ जाय और साहित्य के साधारण विद्यार्थी को भी उसमें निहित कर्म एवं भावों का अन्वय बोधगम्य हो जाय, उसका सही अनुशीलन है।

औचित्य स्थापना

आचार्य महिमभट्ट ने साहित्य की समीक्षा की दो आधारभूत पद्धातियों का उल्लेख किया है—सम्प्रतिपत्तिमूलक एवं विप्रतिपत्तिमूलक। सम्प्रतिपत्तिमूलक पद्धति वह समीक्षक अपनाता है जो रचना की उत्तमता से प्रभावित होकर उसकी समीक्षा करने की ओर उन्मुख होता है। उसका उद्देश्य कवि की कृति में उपलभ्यमान तत्तद् गुणों का सूक्ष्मता के साथ समुन्मेष करना होता है। वामन ऐसे समीक्षकों को तत्त्वाभिनिवेशी कहते हैं। इससे ठीक विपरीत प्रकृति का समीक्षक 'अरोचकी' कहलाता है जिसे काव्य का कुछ भी नहीं रुचता अथवा वह व्यक्ति काव्य की स्थापना से कथमपि सहमत नहीं होता। इसलिए उसकी ऐसी समीक्षा करता है कि उसमें विसंगतियाँ ही दृष्टिगोचर होने लगती हैं। ऐसी समीक्षा को विप्रतिपत्तिमूलक समीक्षा कहेंगे।

६. ना० शा० १।१४
७. काव्यलंकार १।२३

अध्यापक का कार्य समीक्षक से कुछ भिन्न होता है। उसे पढ़ाने के लिए प्रायः ऐसी ही कृतियां निर्धारित होती हैं जिनकी उत्तमता सर्वमान्य नहीं तो बहुमान्य होती ही है। एसी स्थिति में अध्यापक का एक बहुत बड़ा दायित्व होता है कृति में अंकित भावों एवं घटनाओं के औचित्य की स्थापना। कालिदास प्रभृति महाकवियों की कृतियों में भी इस प्रकार के औचित्यस्थापन की आवश्यकता है। वाल्मीकि-रामायण की सीतापरित्याग की घटना के औचित्य की स्थापना का प्रयास कालिदास एवं भवभूति प्रभृति महाकवियों ने भी किया है। शम्बूकवध की घटना रामायणरूपी चन्द्रबिम्ब पर प्रतिभासित अप्रमोष्य कलंक सिद्ध हो रही है। भवभूति प्रभृति कई कवियों ने उसके प्रमोषार्थ जो समाधान प्रस्तुत किए हैं वे उस युग के लिए तो ठीक थे जिसमें स्वार्गादि लोक की प्राप्ति ही परम काम्य थी। तथा उसके प्राप्त हो जाने की बात से किसी भी प्रकार के अनौचित्य का समाधान हो जाता था। पर आज के युगबोध के अनुरूप वह कथमपि नहीं है। हाँ भवभूति ने अपने काव्यसन्दर्भ में उसका सदुपयोग अवश्य किया है। इसी प्रकार कालिदास ने महाभारत की शकुन्तला के प्रत्याख्यान की घटना को औचित्य का धरातल देने के लिए जिस शाप की घटना की सृष्टि की आज वही समूची कृति में मोहनभोग की कंकड़ी बन गई है। महाभारत का वर्णन कटु चाहे जितना भी हो, सत्य तो है।

यहाँ हमारा अभिप्राय कथानक के औचित्य से है। इतिहास से साहित्य का यही पार्थक्य है। आनन्दवर्धन ने इसीलिए साहित्य में किसी घटना के यथावत् वर्णन को सर्वथा अनुपयोगी माना है—

नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किंचित् प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः।[८]

अतः सफल समीक्षक वही है जो पाठक के मानस पटल से घटनाओं की ऐतिहासिकता की पड़ी रेखाओं को थोड़ी देर के लिए अन्तर्निलीन कर औचित्य के आधार पर उनकी स्थापना करने में समर्थ हो। साहित्य के विद्यार्थी के लिए रामायण एवं महाभारत भी मेघदूत एवं स्वप्नवासवदत्त की तरह कवि की कृतियाँ हैं जिनकी घटनाओं में औचित्य के आधार का ऊहापोह सर्वथा वाञ्छनीय है।

घटनाओं की सार्थकता

राजशेखर ने साहित्य को काव्यपुरुष के रूप में सरस्वती का वरदपुत्र कहा है। काव्य का व्यक्ति के रूप में विवेचन करने की प्रथा भी एकदेशीय नहीं है।

८. ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत।

इसीलिए तत्तत् प्रस्थानों के अनुरूप काव्य के अलंकारादि तत्त्वों में से ही किसी को उसका शरीर तो किसी को आत्मा एवं किन्हीं तत्त्वों को शरीर का तो दूसरों को आत्मा का धर्म कहा जाता रहा है—

'उक्तं हि काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरं, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत् इति ।'[९]

पर काव्य के व्यक्तित्व की व्यवस्था एक अन्य प्रकार से भी होती है। जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन की अनेक अवस्थाएं होती हैं जिनमें नाना प्रकार की घटनाओं का चढ़ाव-उतार होता है तथा उन्हीं घटनाओं से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता रहता है, उसी प्रकार काव्य का व्यक्तित्व भी नाना प्रकार के भावों एवं अवस्थाओं से सम्पन्न होता है। उसे लोकवृत्तानुकरण कहने का यही रहस्य है—

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन् मया कृतम् ॥[१०]

मानव व्यक्तित्व की महत्ता उसके जीवन की घटनाओं की सार्थकता एवं अवस्थाओं के तारतम्य में निहित होती है। जिस व्यक्ति के जीवन की घटनाओं में निरर्थकता का अनुपात जितना अधिक होगा वह व्यक्ति उतना ही निम्न कोटि का होगा। यही स्थिति काव्य की भी है। जीवन में तो निरर्थक घटनाओं के घटने का एक मुख्य कारण व्यक्ति का स्वभाव होता है। पर काव्य में इसके लिए कोई स्थान नहीं है। काव्य की प्रत्येक घटना सप्रयोजन एवं साभिप्राय होती है। यहां तक कि इनके संग्रथन में भी एक तारतम्य होता है। साहित्य की छोटी से छोटी घटना के प्रयोजन का उदघाटन कर उसकी सार्थकता एवं निरर्थकता का विवेचन करने में समीक्षक का कार्य अधिक कठिन हो जाता है।

ध्वनिकार का कहना है कि बड़े कवि प्रायः काव्य पर हावी रहते हैं। वे अपनी काव्य-प्रतिभा से रचना की छोटी-मोटी घटनाओं की निरर्थकता का ऐसी चतुरता से गोपन कर लेते हैं कि साहित्य के असाधारण पाठक के लिए भी उन्हें लक्षित करना सम्भव नहीं होता।

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संवृयते कवेः ।[११]

---

९. सा० द० प्र० परिच्छेद ।
१०. ना० शा० १।११२
११. ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत

जिस प्रकार ध्वनिवादी काव्यार्थ की अनभिधेयता में चारुत्व देखते हैं उसी प्रकार काव्य में निरूपित घटनाओं की सार्थकता भी व्यंग्य होकर ही काव्य में चारुता का आधान करती है।

प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाश्यते। न साक्षात् शब्दवाच्यत्वेनैव।[12]

कवि-विवक्षा

साहित्य एक कला है। कला के द्वारा काव्यकार अपनी सौन्दर्यानुभूति को अभिव्यक्ति देता है। सौन्दर्य केवल रूप में ही नहीं अपितु विचारों में भी होता है। क्योंकि विचार भी कोमल एवं उग्र होते हैं। कवि गर्भ के समान विचारों को बीजरूप में धारण करता है। वे उसमें क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं और फिर एक ऐसी स्थिति आती है कि विचारों की अभिव्यक्ति कवि को बेचैन कर देती है। जिन भावनाओं एवं अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिये कवि छटपटाता है, उन्हें कवि-विवक्षा कहते हैं।

व्यक्ति-विवेककार कृत्याकृत्य विवेक को ही काव्य के प्रतिपाद्य रूप में विविक्षा मानते हैं। उनका सिद्धान्त काव्य-सामान्य के लिए ही है कि कवि को कुछ न कुछ बात कहनी ही चाहिए। अपनी किसी सैद्धान्तिक मान्यता या सत्य की अनुभूति को काव्यात्मक शैली में प्रकट करना ही कवि का धर्म है। शैली रोचक अवश्य होनी चाहिए। उसकी रोचकता ही रस है। उनके शब्दों में रस काव्य का साधनभूत तत्त्व है। साध्य तो कोई चिन्तन अथवा विचार ही हो सकता है। कवि की विवक्षा को जानना और सामान्य पाठक को भी उसका बोध करा देना ही समीक्षक की कुशलता है। उसे तो पंक्ति-पंक्ति का मर्मज्ञ होना चाहिए। कवि की विवक्षा बड़े विलक्षण रूप से उसकी अभिव्यक्तियों में छिपी रहती है। वह समूची कृतिगत एव अंशगत निहित पाई जाती है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में रामायण एवं महाभारत जैसी महती कृतियों में भी स्पष्ट रूप से निहित कवि की विवक्षा का ऊहापोह पर्याप्त विस्तारपूर्वक किया है। कुन्तक, महिमभट्ट एवं क्षेमेन्द्र ने अपनी कृतियों में ऐसे अनेक निदर्शन प्रस्तुत किए हैं जिनमें कवि-विवक्षा शब्दों एवं वाक्यांशों में सन्निहित पाई गई है। भामह ने ऐसे विद्वानों को नमस्कार्य कहा है जो कवि के अभिप्राय को हृदयंगम कर लेते हैं एवं अन्यों को भी उसका बोध करा देते हैं—

---

१२. ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत।

नमोस्तु तेभ्यो विद्वद्भ्यो येऽभिप्रायं कवेरिमम् ।
शास्त्रलोकावपास्यैवं नयन्ति नयवेदिनः ॥[13]

रचना शैली—

सामान्य दृष्टि से काव्यानुशीलन में एक बात और शेष रहती है वह है कवि की अभिव्यञ्जना शैली। वाङ्मय की अन्य विधाओं से काव्य की एक मौलिक विशेषता है उसकी अभिव्यक्ति का प्रकार। वामन की पकड़ कितनी सटीक है जब वह कहते हैं—

सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने ।
अस्ति तन्न बिना येन परिस्रवति वाङ् मधु ॥[14]

वह तत्त्व क्या है जिससे समन्वित होने से ही वाणी से मधु चूने लगता है, यह एक प्रश्न है जो सबके मन में स्वाभाविक रूप से उठता है। वामन अपने किसी पूर्ववर्ती आचार्य की उक्ति इसके उत्तर में उद्धृत करते हैं कि वह तो एक विलक्षण प्रकार की पदानुपूर्वी है अर्थात् बात कहने का एक विशेष प्रकार है जिसमें कुछ कथ्य न होने पर भी जैसे सब कुछ उसी में हो ऐसी विलक्षण प्रतीति होती है। उस पदानुपूर्वी को जो सुनता है आनन्दविभोर हो उठता है। सहृदयों के हृदय में तो मानो अमृत की वर्षा ही होने लगती है—

किन्त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी,
यस्यां न किंचिदपि किंचिदिवावभाति ।
आनन्दयत्यथ च कर्णपथप्रयाता,
चेतः सताममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा ॥[15]

यह पदानुपूर्वी काव्यशैली ही है जिसको वामन ने रीति कहा है तथा राजशेखर ने वचनविन्यास-क्रम कहकर परिभाषित किया है। भामह ने अपने पूर्वाचार्यों के नाम से सम्भवतः इसे ही सौशब्द्य कहा है। उन लोगों की भी मान्यता यही थी कि काव्य में अर्थ-ज्ञान उतना महत्त्व नहीं रखता जितना शब्द का सुन्दर प्रयोग—

तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ॥[16]

---

१३. काव्यालंकार ४।४६
१४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १।२।११
१५. वही १।२।२१
१६. काव्यालंकार १।१५

महाकवि भवभूति ने भी काव्य को 'सुवचनानि' कहा है। उत्तररामचरित में सीता की उक्ति की प्रशंसा करते हुए राम ने जो कहा है वह वस्तुतः काव्य की एक सुन्दर परिभाषा है जो भवभूति की है। काव्य, वचनों का ही एक सुन्दर प्रयोग है और वह प्रयोग ऐसा है कि नाना प्रकार के सांसारिक क्रिया कलापों से थके हुए व्यक्ति के जीवात्मा रूपी म्लान पुष्प को फिर से खिला देता है। हर तरह के अभावों से पीड़ित व्यक्ति भी इससे पूर्ण तृप्ति का अनुभव करता है। कविता श्रोत्र ग्राह्य होते हुए भी सभी इन्द्रियों को मोहित कर लेती है। ऐसा काव्य कानों के लिए तो अमृत होता ही है सहृदय सामाजिक के मन के लिए रसायन का काम करता है—

म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि,
संतर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि ।
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि,
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि ॥[१७]

साहित्य के मर्मज्ञ के लिए कवि की काव्यशैली का निरूपण अपने में ही एक सुखद कार्य है। काव्य की शैलियों का सम्बन्ध व्यक्ति की रुचि से भी होता है। यही कारण है कि पाठकों के अपने-अपने प्रिय कवि एवं काव्य हुआ करते हैं। यद्यपि प्रत्येक कवि की रचना का अपना अलग ही प्रकार होता है तथापि शैली के आधार पर उनके वर्गीकरण की भी प्रथा है। काव्य के मर्मज्ञ रचना पढ़ कर ही यह जान लेते हैं कि वह किस कवि की हो सकती है। यह किंवदन्ती निराधार नहीं है कि गणिका के मुख से श्लोकार्ध सुनकर ही श्रीलंका के कवि महीपति कुमार दास ने उसे झटिति पहचान लिया था कि यह कविकुलगुरु कालिदास की रचना है।

काव्यविधाओं की एकता

किसी भी भाषा में जब काव्यात्मक साहित्य का सृजन होने लगता है तो उसके साथ ही साथ उसमें कुछ ऐसे ढाँचों या प्रकारों का विकास होता जाता है जो बाद में साहित्य की विधा का रूप धारण कर लेते हैं। यह प्रत्येक भाषा का अपना अलग ही होता है। संस्कृत भी इसका अपवाद नहीं है। संस्कृत ने काव्य के आधायक दोष, गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति, प्रभृति तत्त्वों एवं ध्वनि, वक्रोक्ति, रस तथा औचित्य प्रभृति जिन सिद्धान्तों का उन्मेष किया है वे

१७. उत्तररामचरित १।३६

अन्यत्र दुर्लभ हैं। यही नहीं साहित्य की उन प्रवृत्तियों पर भी जो प्रायः सभी भाषाओं में समान होती हैं, संस्कृत की अपनी विशेष छाप है।

विश्व की प्राचीनतम भाषाओं के साहित्य के इतिहास का ऊहापोह करने से ज्ञात होता है कि उनमें किसी भी प्रकार की रचना का आरम्भ गद्य से हुआ था तथा आरम्भ में गद्य की ही प्रचुरता रही। छन्द का विकास बहुत काल के अनन्तर हुआ। संस्कृत की यह एक विलक्षणता ही है कि इसमें उपलभ्यमान प्राचीनतम रचनाएं छन्दोबद्ध हैं, चाहे वह वैदिक साहित्य की हों या लौकिक। अनन्तर गद्य व पद्य दोनों ही अभिव्यक्ति के माध्यम बने, पर प्रभुत्व छन्दोबद्ध रचना का ही रहा, चाहे वह काव्यात्मक साहित्य हो या इतिहास पुराण। जबकि विश्व की अनेक भाषाओं के साहित्य में पद्य काव्यात्मक अभिव्यक्ति एवं गद्य काव्येतर रचना के प्रतीक माने जाते रहे हैं।

संस्कृत में काव्यात्मक एवं शास्त्रीय उभयविध साहित्यरचना का माध्यम गद्य एवं पद्य दोनों ही होते रहे हैं और आज भी यह परम्परा अक्षुण्ण है। इतना ही नहीं एक ही कृति में भी गद्य एवं पद्य दोनों का प्रयोग किया जाता रहा है। यजुर्वेद संहिता अधिकांशतः गद्य में ही है तथा अथर्ववेद संहिता के बीस में से दोकाण्ड गद्य में रचित हैं। ब्राह्मणों एवं उपनिषदों में भी यही सरणि अपनाई है। ब्राह्मण ग्रन्थ मुख्यतया गद्यात्मक हैं तथा उपनिषदों में पद्यों का बाहुल्य है। महाभारत तथा भागवतपुराण भी इसी कोटि की रचनाएं हैं। लौकिक संस्कृत में अभिलेख, नाट्य एवं काव्य साहित्य इसी परम्परा के विकसित रूप हैं।

संस्कृत की ही यह विशेषता है कि इसमें काव्येतर वाङ्मय भी छन्दोबद्ध उपलब्ध होता है चाहे वह व्याकरण, दर्शन एवं धर्मार्थकामपरक शास्त्र हो अथवा इतिहास पुराण। इसका परिणाम यह हुआ कि काव्य एवं शास्त्र का परस्पर का सामञ्जस्य निरन्तर बना रहा तथा भाषा एवं भाव दोनों का आदान-प्रदान बिना किसी व्यवधान के सहजभाव से सर्वत्र होता रहा और इस प्रकार वे एक दूसरे के पूरक रहे। अतएव व्यक्तिविवेककार ने काव्य को भी शास्त्र ही कहा है—

'काव्यनाट्यशास्त्ररूपोऽयम्।'

दोनों में अन्तर उपाय अर्थात् अभिव्याक्ति के प्रकार का है। उपेय अर्थात् लक्ष्य की दृष्टि से नहीं—

'उपायमात्रभेदो न फलभेदः।'

काव्य एवं शास्त्र दोनों का ही फल कृत्याकृत्य विवेक है—

सामान्येनोभयमपि च तद् विधिनिषेधव्युत्पत्तिफलम् ।[१८]

कला और विज्ञान का यह सामंजस्य संस्कृत भाषा एवं वाङ्मय की अपनी विशेषता है जो अन्यत्र सुलभ नहीं होती । अतः इसके महत्त्व को समझना होगा । भारतीय वाङ्मय में उपलब्ध शास्त्र एवं साहित्य का यह सामंजस्य अकस्मात् दैवयोग से सम्पन्न हो गया हो ऐसी बात नहीं है । अपितु चिन्तकों एवं साहित्यकारों के सुविचारित प्रयास का ही यह पुष्कल परिणाम है जिसके पीछे उनकी दूरदर्शिनी प्रतिभा काम कर रही थी । आज विश्व के तमाम देशों के साहित्यिक, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक चिन्तनों में एक बिखराव आ गया है तथा इनके बीच की खाइयां क्रमशः इतनी गहरी हो गई हैं कि इनको पाट कर इनमें परस्पर सामंजस्य स्थापित करना सर्वथा असम्भव है । ऐसी स्थिति में भारतीय प्रतिभा का महत्त्व समझ में आता है । राष्ट्र की हर प्रकार की चेतना में एकात्मता बनाए रखने के लिए साहित्य विज्ञान एवं दर्शन का परस्पर का सामंजस्य कितना महत्त्वपूर्ण है । संस्कृत ने इस सामंजस्य को बनाए रखकर राष्ट्रिय सांस्कृतिक एकता में महान् योग दिया है । यहां इस ओर इंगित करने का हमारा अभिप्राय यह है कि भारतीय इस मेधा की महिमा को पहचानकर ही साहित्य की गहराई को समझा जा सकता है और तभी उसका समुचित मूल्यांकन भी सम्भव है।

साहित्य में सौन्दर्य

संस्कृत में भाषा के अध्ययन से जिस प्रकार व्याकरण का विकास हुआ उसी प्रकार साहित्य के अध्ययनाध्यापन के परिणामस्वरूप साहित्य-शास्त्र की एक महती परम्परा का निर्माण हो गया है। ई० पू० की तृतीय शताब्दी की कृति नाट्यशास्त्र से लेकर ईसा की सत्रहवीं शताब्दी की रचना रसगंगाधर तक के लगभग दो सहस्र वर्षों में संस्कृत के साहित्यपरक शास्त्र का निरन्तर विकास होता रहा है, जो किसी न किसी रूप में आज भी जीवित है । इस परम्परा ने साहित्य की मीमांसा का एक बहुत बड़ा इतिहास निर्माण कर दिया है जो कम महनीय नहीं है । साहित्य के अग प्रत्यंग का जैसा विशद विवेचन यहाँ हुआ है सम्भवतः विश्व के किसी भी देश व भाषा के साहित्यशास्त्र में वैसा उपलब्ध नहीं होता । काव्य के आधायक तत्त्वों की पारिभाषिक पदावली एवं साहित्य की समीक्षा के सिद्धान्तों का इतना विस्तारपूर्वक निरूपण यहाँ उपलब्ध होता है कि उसे आत्मसात् कर काव्य के अध्ययनाध्यापन में उसका सम्यक् उपयोग

---

१८. व्यक्तिविवेक प्र० वि० पृ० २० (चौखंभा मधुसूदनी विवृति सहित)

कर पाना साहित्य के साधारण अध्येता के वश की बात नहीं है। यद्यपि दोषगुणालंकार रीतिवृत्तिप्रवृत्ति प्रभृति काव्य के आधायक तत्त्व एवं रसध्वनि-वक्रोक्ति प्रभृति काव्यालोचन के सिद्धान्त ऐसे रूढ़ हो गए हैं कि इनके उल्लेख मात्र से साहित्य का अध्ययनाध्यापन अपूर्ण सा लगने लगा है और इनमें भी अब नवनवोन्मेष की आवश्यकता का अनुभव पदे पदे होता है। तथापि साहित्य की व्याख्या में इनके योग को नकारना बहुत बड़ी भूल होगी। इस स्थल पर इनका सम्यक् रूप से विवेचन तो सम्भव नहीं है तथापि दिङ्मात्रदर्शन के लिए यहाँ इसका यत्किंचित् निरूपण किया जा रहा है।

साहित्य एक कला ही नहीं अपितु ललितकलाओं में सर्वोत्कृष्ट माना गया है। कला का कलात्व उसके द्वारा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में निहित होता है। काव्य से जिस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है उसका स्वरूप क्या है? तथा उसकी सृष्टि किस प्रकार होती है ? इसका विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र में हुआ है। यहाँ उसे चारुता, शोभा, सौन्दर्य, चमत्कार, विच्छित्ति एवं रमणीयता आदि पदों से अभिहित किया गया है। ये पद साहित्य की शास्त्रीय कृतियों में अलग-अलग प्रयुक्त हुए हैं और प्रायः एक दूसरे के पर्याय हैं। किसी भी रचना की उत्तमता को आँकने के लिए इनका बोध अत्यावश्यक है।

भरतनाट्यशास्त्र में इनमें से किसी का भी प्रयोग नहीं हुआ है। सम्भवतः इसलिए कि ये रचना के धर्म हैं और नाट्य एक ऐसी कला है जो शोभाधायक होने की अपेक्षा हर्षाधायक होती हैं। हर्ष रचना का नहीं अपितु प्रेक्षक का धर्म होता है। यही भाव नाटक के आस्वाद्य होने में है। अतः साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी को चारुता एवं आस्वादनीयता के अन्तर को समझना चाहिए।

भामह प्रथम आचार्य हैं जो कवि की कृति में चारुता की गवेषणा करते हैं। उनके विवेचन से प्रतीत होता है कि पूर्ववर्ती कुछ समीक्षकों ने वैदर्भ मार्ग को ही काव्याभिव्यक्ति के लिए प्रशस्त ठहराया था। भामह कहते हैं कि मात्र वैदर्भ मार्ग के अनुसरण से रचना में चारुता का आधान नहीं होता—

न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।[१६]

यहाँ आदि पद पूर्वोल्लिखित वैदर्भ मार्ग के लिए प्रयुक्त हुआ है। भामह का अपना मत है कि काव्यात्मक रचना में चारुता अलंकृति अर्थात् अलंकारों

१६. काव्यालंकार १।३६

के समुचित प्रयोग से आती है और अलंकारता कवि की वक्र उक्ति में निहित होती है—

'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः ।।[२०]

दण्डी सामान्यरूप से सभी अलंकारों को काव्य-शोभा के आधायक मानते हैं—

'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते: ।[२१]

वामन ने सौन्दर्य एवं शोभा दोनों पदों का प्रयोग किया है और अलंकार को सौन्दर्य कहते हुए भी गुणों को काव्य शोभा का स्वरूपाधायक एवं अलंकारों को उत्कर्षाधायक माना है—

'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाःतदतिशयहेतवोऽलंकाराः।'[२२]

आनन्दवर्धन के अनुसार महाकवियों की वाणी की मुख्य भूषा अर्थ की प्रतीयमानता है, जो वस्तु, अलंकार एवं रस के रूप में प्रधानतया अभिव्यंजित होकर ध्वनि कहलाती है—

मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ।।[२३]

उनका कहना है कि सुन्दरियों के लावण्य के समान ही काव्य की चारुता भी प्रतीयमान होती है, वाच्य नहीं—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।।[२४]

आनन्द की दृष्टि में चारुता का नियामक तत्त्व भावों की प्रतीयमानता है। सारगर्भित बात भी व्यंग्य होकर जितनी चमत्कारी होती है वाच्य होने पर उतनी नहीं—

'साररुपो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरां शोभामावहति ।[२५]

कुन्तक ने भामह की सरणि परही वक्रोक्ति को चमत्कार का आधायक तत्त्व बताया है जो स्वाभावोक्ति से सर्वथा भिन्न होता है। रसवादी आचार्यों के

२०. काव्यलंकार १।३६
२१. काव्यादर्श २।१
२२. काव्यलंकारसूत्र ३।१।१-२
२३. ध्वन्यालोक ३।३८
२४. वही १।४
२५. वही द्वितीय विमर्श ३०

आचार्य अभिनवगुप्त रस को ही काव्यजन्य चारुता का एक मात्र आधायक तत्त्व मानते हैं। उनकी धारणा है कि वस्तु एवं अलंकार में भी चारुत्व रस के संस्पर्श से ही आता है। विश्वनाथ भी इसी मत के समर्थक हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ काव्य की चारुता के लिए रमणीयता पद का प्रयोग करते हैं और उसे अर्थ मात्र में निहित मानते हैं। उनके अनुसार रमणीयता ही काव्य से होने वाले लोकोत्तर आह्लाद की जननी है। काव्य की रमणीयता उसकी रसनीयता ही है।

इस प्रकार प्रत्येक रचना में अनिवार्य रूप से विद्यमान काव्यचारुता का ऊहापोह करना साहित्यिक समीक्षा का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इसका विवेचन एक शब्द, किशी वाक्य, एक पद्य या सन्दर्भ, किसी सर्ग, उच्छ्वास या अंक तथा पूरी कृति को लेकर किया जा सकता है। काव्य को सामान्य रूप से अलंकार भी कहा जाता रहा है। इसकी अलंकारिता सौन्दर्याभिव्यक्ति में ही कूटस्थ है। काव्य में पूर्णरूप से सौन्दर्य का आधान रस से ही होता है। 'सौन्दर्यमलंकारः' का यही अभिप्राय है।

काव्यनुभूति

साहित्यानुशीलन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष काव्यनुभूति के स्वरूप का निरूपण करना है। किसी भी प्रकार की अनुभूति को शब्दों में बांधना बहुत कठिन होता है। क्योंकि उसका स्वरूप सर्वथा अमूर्त होने से अस्पष्ट एवं गूढ़ बना रहता है। काव्यानुभूति के स्वरूप की भी यही स्थिति है। भारतीय साहित्य के मनीषियों ने इसके तीन रूप निरूपित किए हैं। काव्यानुभूति का एक रूप वह है जो नई जानकारी में होता है। जब भी हम कोई नई बात जानते हैं या हमारी ज्ञान राशि में जब कोई नूतन तत्त्व समन्वित होता है तो ज्ञान तन्तुओं की झंकृति ज्ञात विषयों की जानकारी की अपेक्षा भिन्न प्रकार की होती है। उसे ही वस्तु की संज्ञा दी गयी है। सम्भवतः इसलिए कि उस अवस्था में पाठक यह अनुभव करता है कि उसे कुछ मिला

काव्यानुभूति का दूसरा प्रकार वैचित्र्य है जिसकी अनुभूति अलंकारों के माध्यम से होती है इसमें हम क्षण-मात्र के लिए चमत्कृत होने का अनुभव करते हैं। यह विचित्रता हमारे जीवन की दैनन्दिन की घटनाओं से सर्वथा पृथक् होने से आती है। दूसरे शब्दों में हम इसे अतिशयित व्यापार जन्य कह सकते

हैं। इसमें हमारी ज्ञान-राशि को बढ़ाने लायक जैसा कुछ नहीं होता अपितु हमें चमत्कृत कर हमारी वैचित्र्य के प्रति कुतूहल की सहज भावना को तृप्ति प्रदान करता है।

काव्यानुभूति का तीसरा प्रकार वह है जो हमें अपने में समेटकर विगलित वेद्यान्तर कर देता है। हम आत्मविस्मृति की अवस्था में हो जाते हैं इसे ही रसानुभूति कहते हैं। इस अवस्था में न तो हमें किसी नई जानकारी का बोध होता है न ही विचित्रता की अनुभूति होती है। इन दोनों प्रकार के अनुभवों से सर्वथा पृथक् एक विलक्षण प्रकार की अनुभूति से हमारा अन्तःकरण आप्लावित हो जाता है। हमारे अङ्गप्रत्यंग फड़क उठते हैं रग-रग में उत्साह का संचार हो जाता है। काव्य जन्य रसानुभूति के स्वरूप का निरूपण वस्तु एवं अलंकारों की अपेक्षा दुरूह है। तथापि भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक की साहित्यिक कृतियों में वस्तु एवं अलंकारों के निरुपण के साथ साथ रस को भी विवेचना का विषय बनाया गया है। उक्त तीनों प्रकार की अनुभूतियों में रस सर्वोत्तम है, इसे एक स्वर से स्वीकार किया गया है। आनन्दवर्धन ने तो वस्तु और अलंकार को रस निष्पत्ति का साधन बताया है। उनका कहना है कि काव्य में वस्तु एवं अलंकार का ग्रहण रस के लिए ही करना चाहिए तथा वस्तु आदि का जैसे-तैसे निर्वाह करते हुए समग्र काव्य को रसमय बना देना चाहिए।[२६]

रस की अवहेलना करके वस्तु में नवनवोन्मेष की योजना अथवा वैचित्र्य की सृष्टि सर्वथा अनभिप्रेत है और काव्य की गरिमा को तो ठेस पहुंचाती ही है। कवि को भी प्रथम कोटि में स्थान नहीं पाने देती आनन्दवर्धन ने इसका स्पष्ट निर्देश किया है कि काव्य प्रतिभा से समर्थ कवि प्रायः इस तरह का प्रदर्शन करने में लग जाते हैं—प्रबन्धविशेषस्य नाटकादे रसव्यक्तिनिमित्त-मिदं चापरमवगन्तव्यम् यदलंकृततीनां शक्तावप्यानुरुप्येण योजनं शक्तो हि कदाचित् अलंकारनिवन्धने तदाक्षिप्ततयैवानपेक्षितरसबन्धः प्रबन्धमारभते तदुपदेशार्थमिदम् उक्तम्।[२७]

---

२६. तथा शरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं यथा तथा।
यथा रसमयं सर्वमेव तत्प्रतिभासते ॥ ध्वन्यालोक, तृ० उ०

२७. ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत।

भारतीय साहित्यालोचन में रस को काव्य का सर्वस्व माना गया है। गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति प्रभृति अन्य सभी सत्त्वों की योजना रसपरक ही करने का विधान हुआ है। उक्त काव्यीय तत्त्वों की समीक्षा भी रस को दृष्टि में रखकर ही की जानी चाहिये। इसीलिये हमारे देश में रससिद्ध कवियों को विशेष महत्त्व मिलता रहा है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास एवं भवभूति इसके निदर्शन हैं। कहा भी है—

> जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
> नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम् ॥

२

रससिद्धान्त के विकास का इतिहास

रस काव्य का अन्यतम ही नहीं परम महनीय तत्त्व है। इस भाव की अभिव्यक्ति साहित्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में आत्मा, अंगी, प्रधान-प्रतिपाद्य, स्वरूपाधायक एवं अलंकार्य आदि पदों से होती है जो इसके लिए प्रयुक्त हुए हैं। अलंकार-शास्त्र की प्रायः सभी कृतियों में साक्षात् या परोक्ष रूप से रस का विवेचन उपलब्ध अवश्य होता है। पर आश्चर्य की बात यह है कि समूचे साहित्य-शास्त्र के इतिहास में जिसकी अवधि दो सहस्र वर्ष से भी अधिक है विशुद्ध रूप से रस का सैद्धान्तिक विवेचनकारी कोई भी महनीय ग्रन्थ लिखा नहीं गया है। रसतरङ्गिणी एवं रसप्रदीप प्रभृति कुछ बहुत ही लघुकाय कृतियां केवल रस को लेकर हुई हैं पर वे रस का सैद्धान्तिक विवेचन न कर उसके भेदप्रभेदों का लक्षणोदाहरणात्मक निरूपण मात्र करती हैं।

ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, भक्तिरसामृतसिन्धु एवं रसगङ्गाधर प्रभृति प्रतिनिधिग्रन्थों में रस का सैद्धान्तिक विवेचन अतिगहन अवश्य हुआ है। पर वहां भी रस के स्वरूप की दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक मीमांसा ही मुख्य रूप से हुई है। उसके विकास के ऐतिहासिक क्रम का ध्यान रखते हुए कोई भी समीक्षा प्रस्तुत नहीं की जा सकी है। लगभग यही स्थिति अंग्रेजी के माध्यम से लिखित ग्रन्थों की है। काणे एवं डे प्रभृति विद्वानों ने अपनी कृतियों में रस का जो विवेचन प्रस्तुत किया है उसमें इतिहास तो मुखर है पर समीक्षा मौन।

हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से रस को लेकर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे गये हैं जो महनीय भी हैं पर उनमें रस सिद्धान्त की आधुनिक युग-बोध के अनुरूप व्याख्या ही प्रमुख हो गई है, विकास एवं उसकी ऐतिहासिक-समीक्षा गौण।

विशुद्ध रूप से संस्कृत-वाङ्मय में उपलभ्यमान कृतियों को आधार

बनाकर यहाँ रस-सिद्धान्त के विकास की ऐतिहासिक समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है।

भारतीय साहित्यशास्त्र का ऐतिहासिक दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में रस का विवेचन तत्त्व, सिद्धान्त एवं प्रस्थान तीन रूपों में उपलब्ध होता है। दोष, गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति एवं प्रवृत्ति आदि की तरह ही रस भी काव्य का एक अन्यतम तत्त्व है जिसका उल्लेख रामायण एवं महाभारत में तो साक्षात् हुआ ही है वैदिक संहिताओं में भी प्रकारान्तर से इसका निरूपण हुआ है। इस प्रकार काव्य के आधायक तत्त्व के रूप में रस का इतिहास उतना ही पुराना है जितनी ऋग्वेद संहिता।[1]

सिद्धान्त के रूप में रस का विवेचन सबसे पहले भरत के नाट्यशास्त्र के षष्ठ एवं सप्तम अध्यायों में हुआ है। यद्यपि राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' का उपोद्घात करते हुए नन्दिकेश्वर को रस का अधिकारी आचार्य कहा है किन्तु अभीतक नन्दिकेश्वर के नाम से अभिनयदर्पण नामक कृति के अतिरिक्त और कुछ हस्तगत नहीं हो सका है जिसके आधार पर उन्हें रस-सिद्धान्त का उद्भावक या विवेचक आचार्य माना जाय। पाणिनि द्वारा उल्लिखित[2] 'शिलालि' के 'नटसूत्र' में सम्भवतः रस पर कोई प्रकरण ऐसा रहा हो जिसमें उसका सैद्धान्तिक विवेचन सूत्ररूप से किया गया हो। पर दुर्भाग्यवश वह कृति अब उपलब्ध नहीं है। कृशाश्व के विषय में भी यही बात लागू होती है[3]। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय साहित्यिक समीक्षा के इतिहास में रस के सैद्धान्तिक विवेचन के श्रीगणेश का श्रेय मुनिभरत को ही जाता है जिनकी ऐतिहासिकता अभी भी निर्विवादिता से परे है। पर इससे प्रकृत 'नाट्यशास्त्र' की महत्ता में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। उसे तो निर्द्वन्द्व रूप से रससिद्धान्त का विवेचक आद्यग्रन्थ स्वीकारना ही पड़ेगा।

---

१. पा॒व॒मा॒नीर्यो अ॒ध्येत्यृषि॑भि॒: संभृ॑तं॒ रस॑म्।
तस्मै॒ सर॑स्वती दुहे क्षी॒रं स॒र्पिर्मधू॑दकम्॥ ऋ० ९।६७।३२

२. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः। अष्टाध्यायी ४।३।११०

३. कर्मन्दकृशाश्वादिनिः। वही ४।३।१११

नाट्यशास्त्र के कर्ता आदि एवं वृद्ध प्रभृति भरतों के ऊहापोह के पचड़े में न पड़कर इसके रचना-काल के विषय में इतना ही कहना यहाँ पर्याप्त है कि बाह्याभ्यन्तर साक्षियों के आधार पर इसे ३०० ई० पू० से लेकर ३०० ई० के बीच की रचना माना गया है।[४] काल की सीमा की यह लम्बाई इसलिए भी उपयुक्त लगती है कि प्रकृत नाट्यशास्त्र निःसन्देह किसी एक व्यक्ति की मौलिक रचना न होकर एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें उक्त छः सौ वर्षों तक समय समय पर नाट्यविषयक सामग्री का संकलन एवं यथास्थान प्रक्षेप होता रहा है।

नाट्यशास्त्र का रसविषयक सैद्धान्तिक विवेचन किसी भी प्रकार अपूर्ण नहीं है। अपितु अपेक्षित प्राविधिक पदावली का जैसा सधा हुआ प्रयोग यहां उपलब्ध होता है उसे देखकर कौन नहीं कह उठेगा कि इन्हें विकसित होकर रूढ़ होने में पर्याप्त समय लगा होगा। क्योंकि सिद्धान्तों की उद्भावना के शताब्दियों बाद ही प्राविधिक पदावली का ऐसा सुव्यवस्थित प्रयोग हो पाता है।।

भरतमुनि का रसविवेचन दार्शनिक उलभाव से सर्वथा परे एवं विशुद्ध रूप से शास्त्रीय है। लौकिक व्यञ्जन का निदर्शन देकर पाटक को मानों समझाते हुए कहा है कि जिस प्रकार व्यंजनों से सुसंस्कृत अन्न का उपभोग कर लोग एक विशेष प्रकार के स्वाद का अनुभव करते हैं और प्रसन्न हो उठते हैं उसी प्रकार काव्यजन्य रस का अनुभव कर सहृदय व्यक्ति हर्षविभोर हो जाता है।[५] उसकी यह अनुभूति ही रसानुभूति है जो काव्य के वर्णनों में विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव के द्वारा सम्मिलित रूप से स्थायी भाव की अभिव्यंजना से होती है। इसकी रस-संज्ञा का कारण इसकी आस्वादनीयता है। अपने अन्तःकरण में स्थायीरूप से विद्यमान रत्यादि भावों का अपने ही मन के द्वारा यह आस्वाद सम्पन्न होता है[६]। ये स्थायी भाव चित्त की

4. Kane Dr. P.V., History of Sanskrit Poeties, Moti Lal Banarasi Das, p. 47

५. यथाहि नाना व्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। ना० शा०, बड़ौदा प्र०भा०, पृ०२८८-८९

६. भावाभिनयसंबद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्तिमनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥ वही ६।३३

रागात्मक वृत्तियाँ हैं जो मूलतः चार ही होती हैं विकास, विस्तार, क्षोभ एवं विक्षेप, जिन्हें काव्य में रति, उत्साह, क्रोध एवं जुगुप्सा कहा गया है। पर इनकी चार उपवृत्तियों के होने से ये आठ हो जाती हैं। इसी आधार पर रस आठ ही माने गये हैं।

नाट्यशास्त्र के इसी अध्याय में नवम शान्तरस का भी विवरण उपलब्ध होता है जिसका स्थायीभाव शम उक्त चारों प्रकार की मूलवृत्तियों का अभावरूप होता है। यहीं शान्त को सभी रसों की प्रकृति कहकर सबको इसका ही विकार माना गया है[७]। शान्तरस के इस विवेचन को कुछ आधुनिक विद्वान् प्रक्षिप्त कहते हैं पर इस पर अभिनव की टीका के विस्तारपूर्वक उपलब्ध होने से नाट्यशास्त्र के इस अंश को अभिनवगुप्त के काल (१००० ई०) के पूर्व का तो स्वीकार करना ही पड़ेगा।

मुनिभरत का विवेचन उस समय की प्रथा के अनुसार पौराणिक शैली में हुआ है जहां शिष्यों के प्रश्नों के उत्तर में ही निखिलग्रन्थ की सामग्री का प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थ के आरम्भ में शास्त्र की प्रवृत्ति का प्रयोजन दुःखापनोदन बताया गया है। पर रस के निरूपण के प्रसंग में इसकी चर्चा तक कहीं नहीं हुई है। यही नहीं भरत के विवेचन में रसानुभूति के लिए आनन्द पद का प्रयोग भी कहीं नहीं हुआ है, उसे ब्रह्मानन्दसहोदर कहना तो दूर की बात है। रसपरक भरतसूत्र—विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः आपाततः इतना सरल और सुबोध है कि सामान्य पाठक को भी इसे समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। पर व्याख्याकारों ने इसी सूत्र की जिस प्रकार विकट व्याख्यायें उपस्थित की हैं, उससे ज्ञात है कि रस-सूत्र जितना सरल प्रतीत होता है, वस्तुतः उतना है नहीं।

नाट्यशास्त्र के विवेचनों में कहीं कहीं अन्तर्विरोध भी परिलक्षित हुआ है—प्रश्न उठाया है कि रस से भावों की अभिनिर्वृत्ति होती है या भावों से रस की? उत्तर दिया है—भावों से ही रस की अभिनिर्वृत्ति होती है न कि रस से भावों की। आगे इसी प्रसंग में भावों और रसों की सिद्धि परस्पर-कृत बतायी है। इतना ही नहीं इसके अनन्तर ही रसों को मूल कहकर उनसे ही भावों के व्यस्थित होने का विधान किया है[८]। यहाँ अभिनिर्वृत्ति, सिद्धि और व्यवस्थिति को पर्याय ही मानना चाहिए अन्यथा ग्रन्थ के अभिप्राय का

---

७. भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः। ना० शा० पृ० ३३४

८. यथा बीजाद्भवेद्वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः॥ ना० शा० ६।३८

पता लगाना संभव नहीं होगा। अतएव अभिनवभारतीकार को इन स्थलों की व्याख्या में बहुत खींचतान करनी पड़ी है।

भरत ने आठ स्थायी, आठ ही सात्त्विक तथा तैंतीस व्यभिचारी भाव माने हैं। इस प्रकार भरतप्रोक्त भावों की कुल संख्या उनचास (४९) है। पण्डितराज जगन्नाथ ने रसों एवं भावों की संख्या के ऊपर प्रश्न उठाया है तथा इसे भरत की परम्परा का पालन मात्र कहा है। पर इनके पीछे ठोस मनोवैज्ञानिक आधार भी है जिसका दिङ्मात्रदर्शन दशरूपक की टीका अवलोक में उपलब्ध होता है[९]। भरतनाट्यशास्त्र में विवेचित रसविषयक सामग्री का यही संक्षेप है जिसमें यह बताना संभव नहीं कि इसमें से कितना भरत की देन है और कितना पूर्वतः प्राप्त।

जहां तक काव्य या नाट्य में रस के स्थान का प्रश्न है भरत का मत है कि काव्य को रस से उसी प्रकार ओत-प्रोत कर देना चाहिए जिस प्रकार मधुमास में उद्यानभूमि पुष्पों से अवकीर्ण होती है—

पुष्पावकीर्णाः कर्तव्याः काव्येषु हि रसा बुधैः ॥[१०]

भरत का रसविवेचन नाट्य की दृष्टि से था जिसे अभिनेय या दृश्यकाव्य कहा गया है। अनन्तर श्रव्यकाव्य को लेकर भी अलग से शास्त्र की रचना हुई। भामह, दण्डी एवं उद्भट प्रभृति आचार्यों ने काव्य के विविध तत्त्वों का जो विवेचन उपस्थापित किया उसमें अलंकार तत्त्व की ही प्रधानता थी। रस को भी वहां एक अलंकार के रूप में ही स्थान मिला जो निश्चित रूप से उसका मात्र तत्त्व की दृष्टि से विवेचन था न कि सैद्धान्तिक। यही स्थिति आचार्य वामन की है। उनकी दृष्टि में कहने के प्रकार अर्थात् रीति में ही काव्यत्व निहित है। अतः काव्य की आत्मा रीति है और रीति की आत्मा गुण। रस का समावेश 'कान्ति' नामक गुण में किया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि उन दिनों रस को मुख्यतया नाट्य की ही सम्पत्ति समझा जाता था। रस की निष्पत्ति का रहस्य प्रयोग को माना है। अतः श्रव्यकाव्य के रसास्वाद का विषय न होने का कारण उसकी अनभिनेयता ही है। भट्टतौत का कहना है —

प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसंभवः।[११]

---

९. दशरूपक का० ४।४३ पर अवलोक।

१०. ना० शा० ७।१२०

११. अभिनव-भारती; ना० शा०, वड़ौदा, पृ० २९१

नाट्यशास्त्र के कारिकांश 'तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः' की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने इसे स्पष्ट कर दिया है कि नाट्य और रस अभिन्न वस्तु हैं। नाट्य ही रस है अथवा रससमुदाय को ही नाट्य कहते हैं। श्रव्यकाव्य में जहाँ कहीं रसानुभूति होती है वहां कवि-कर्म वर्णना इतनी निपुणता से की गई होती है कि वर्ण्यवस्तु प्रत्यक्ष दृष्ट के समान हो जाती है।

भामह से लेकर आनन्दवर्धन तक रस की स्थिति लगभग यही बनी रही। आनन्द का ध्वनिसिद्धान्त दोषगुणालंकार एवं रीति प्रभृति तत्त्वों के साथ रस का सामञ्जस्य स्थापित करने का एक स्तुत्य प्रयास है जहां रस को काव्य के अन्य तत्त्व वस्तु एवं अलंकार की अपेक्षा अधिक महत्त्व मिला है। ध्वनि-सिद्धान्त में रस की अलंकारता का सर्वथा परिहार हो गया क्योंकि अलंकार यहां काव्य के स्वरूपाधायक तत्त्व नहीं रहे। बल्कि काव्य में उनकी भी विवक्षा रस के अंगरूप में अर्थात् रसपरक ही मान्य हुई, अंगीरूप में कदापि नहीं।[१२]

आनन्दवर्धन का यह विवेचन रसतत्त्व विषयक ही है न कि रसद्धिान्त विषयक, जहां वस्तु एवं अलंकार की भांति ही रस को भी ध्वनि का एक प्रकार माना गया है, चाहे बाद में उसे ही सर्वोत्तम प्रकार क्यों न कह दिया गया हो। जहां तक सैद्धान्तिक विवेचन का प्रश्न है ध्वनिकार ने भरत के रस-विवेचन को ही यथातथ्य अंगीकार कर लिया है। इनके निरूपण में दो बातें बड़े महत्त्व की हैं जिनका सम्बन्ध रससिद्धान्त से भी है। एक तो यह कि रस मात्र-नाट्य का ही विषय नहीं है अपितु रामायण एवं महाभारत प्रभृति श्रव्यकाव्यों में भी रसध्वनि की ही प्रधानता है। आनन्दवर्धन का तो यहां तक कहना है कि यह तो कवि का सामर्थ्य है जिससे काव्य में रसाभिव्यक्ति होती है। यदि कवि रससिद्ध है तो प्रबन्ध क्या मुक्तकों में भी रसानुभूति कराने की क्षमता हो आती है। अमरुक के पद्य इसके ज्वलन्त निदर्शन हैं। इनकी दूसरी बात जो इससे भी अधिक महत्त्व की है तथा जिसने भारतीय काव्यशास्त्र की धारा को एक विशेष दिशा में मोड़ दिया, वह है रस की व्यञ्जनीयता। रस व्यंग्य है अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा ही यह आस्वाद का विषय होता है। शब्द एवं अर्थ, अलंकार एवं वस्तु के रूप में इसके व्यंजक होते हैं। काव्य के आधायक निखिल तत्त्वों में से रस ही एक ऐसा है जो केवल व्यंग्य ही रहता है वाच्य या लक्ष्य कभी नहीं होता।

आनन्द-प्रोक्त रस की व्यञ्जनीयता के सिद्धान्त के ऊपर अनेक प्रकार

---

१२. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन। ध्व० का० २।१८

की विप्रतिपत्तियां उठायी गयीं। भट्टनायक, राजशेखर, धनञ्जय, कुन्तक, महिमभट्ट तथा भोज प्रभृति आचार्यों में से किसी ने साक्षात् तो किसी ने परोक्ष रूप से ही इसका खण्डन किया। पर मम्मट तक आते आते विरोध के स्वर न जाने कहां विलीन हो गये और रस की व्यंजनीयता एक तथ्य के रूप में स्वीकृत हो गई। इसका श्रेय परममाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त को है जिन्होंने बिना किसी स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना किये भी अपनी दो टीकाओं 'अभिनवभारती' एवं 'ध्वन्यालोकलोचन' के माध्यम से साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा, विशेषरूप से रस-सिद्धान्त को बहुत कुछ दिया है।

काव्यरस विषयक अभिनवगुप्त के सिद्धान्त की मीमांसा करने के पूर्व यह आवश्यक है कि भरतनाट्यशास्त्र के पूर्ववर्ती टीकाकार भट्टलोल्लट एवं श्री शंकुक तथा साधारणीकरणव्यापार के उद्भावक आचार्य भट्टनायक द्वारा प्रस्तुत रस-सूत्र की व्याख्याओं की कड़ी जोड़ ली जाय। रस की शास्त्रीय विवेचना के इतिहास में इनका महत्त्व सर्वाधिक है।

भट्टलोल्लट को मीमांसक कहा जाता है जिन्होंने मीमांसा-दर्शन के अपूर्ववाद के सिद्धान्त से प्रेरणा लेकर उसी सरणि पर रस-निष्पत्ति को भी व्यवस्थित किया है। यज्ञयागादि श्रुतिविहित कर्मों के निष्पादन से जिस प्रकार एक अपूर्व (पुण्य) पैदा होता है जो अदृष्ट भी कहा जाता है क्योंकि यजमान को उसकी फलात्मक अनुभूतिमात्र होती है। ठीक उसी प्रकार नाट्य में भी विभावादि कारणों से रसरूप एक अपूर्व वस्तु उत्पन्न होती है जिसका अनुभव सहृदय सामाजिक करता है। इस प्रकार रसात्मक अनुभूति विभावादि कारण-व्यापार से ही उत्पन्न कार्यरूप फल है जिसकी वास्तविक उत्पत्ति का आश्रय तो रामादि अनुकार्य ही होते हैं पर प्रतीति का आश्रय अनुकर्ता नट तथा उसका अनुभूति का आश्रय सहृदय सामाजिक होता है।

नाट्यशास्त्र के दूसरे प्रसिद्ध टीकाकार श्री शङ्कुक को रस का कार्य कहा जाना इसलिए मान्य नहीं है कि रसानुभूति के अव्यवहितपूर्व में नियतरूप से विद्यमान विभावादि के साथ रस का कार्य-कारणभाव सम्बन्ध ही नहीं बनता। क्योंकि विभावादि रस के समवायि कारण तो होने से रहे फिर भी यदि उनमें कारणता का हठ करेंगे तो वे निमित्त कारण ही हो सकते हैं जो रसानुभूति के प्रसंग में एक विपरीत बात होगी। एक बार उत्पन्न कार्य का निमित्तकारण के विनाश से विनाश नहीं होता। यहाँ तो विभावादि हटे नहीं कि रस का अन्तर्धान हुआ। इसीलिए तो रस को 'विभावादि-

जीविताबधि' कहा गया है। अतः रस कार्य न होकर ज्ञाप्य है। ज्ञप्ति का प्रकार अनुमान ही है। इस तरह श्रीशङ्कुक के मत से रस अनुमेय है पर साथ ही अनुमीयमान अन्य वस्तुओं से इसलिए विलक्षण है कि यहाँ सामाजिक की वासनाएं भी काम करती रहती हैं। फलतः अनुमेय होकर भी रस अनुभूति-पथ पर अवतरित हो जाता है।

भट्टनायक की दृष्टि में रस की कार्यता और ज्ञाप्यता का कोई अर्थ नहीं होता क्योंकि वह न तो सर्वथा अविद्यमान भाव की नूतन सृष्टि है न ही रस रूप में पूर्वतः विद्यमान रहता है। अपितु यह एक ऐसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति-विशेष से सम्बन्धित विभावादि का साधारणीकरण होकर सहृदय सामाजिक के चित्त में रजस्तमोभाव को दबाकर सत्त्व की बहुलता हो जाती हैं जिससे आनन्दात्मक एक ऐसी विलक्षण अनुभूति होती है जिसमें व्यक्ति की चेतना खो सी जाती है। यही रस का भोग कहलाता है।

आचार्य अभिनवगुत ने इन मतों का सदुपयोग करते हुए व्यञ्जना वृत्ति के आधार पर ही रस-निष्पत्ति की व्याख्या प्रस्तुत की। पर इन प्रश्नों को बहुत महत्त्व न देकर उन्होंने रसानुभूति का अन्तदर्शनात्मक निरूपण उपस्थापित किया। इस प्रसंग में पहली बात उन्होंने जो कही वह यह है कि रस अनुभूति का विषय न होकर साक्षात् अनुभूति ही है। वह विषय-गत बोध नहीं अपितु विषयिगत-बोध है। दूसरे शब्दों में आत्मानुभूति ही रसानुभूति है जिसे अभिनव स्वात्मपरामर्श कहते हैं। उनका तर्क है कि सर्वथा अदृश्य राहुग्रह जब सूर्य या चन्द्र पर से होकर गुजरता है तो सर्वसामान्य के लिए भी दृष्टिगोचर हो जाता है। यही स्थिति इन्द्रियातीत आत्मतत्त्व की भी है जो मात्र सत्त्वशील अन्तःकरण में ही प्रतिफलित होकर मन के द्वारा सर्वसामान्य व्यक्ति की भी अनुभूति का विषय हो जाता है। यह अवस्था निर्विकल्पक समाधि में स्थायी रूप से आती है परलौकिक विषयों के निर्द्वन्द्व भाव से उयभोग में भी क्षणिक रूप में वही लाभ हो जाता है। काव्य का मार्ग मध्यम है जिससे सहृदय सामाजिक के मन में विद्यमान रत्यादि कुछ विषयों के संस्कार को उद्बुद्ध कर चित्त की सत्त्वशील दशा में आत्मानुभूति की जाती है। इस प्रकार विभावादि का बोध होते ही वर्ण्यविषय के साथ जब तन्मयीभाव हो जाता है तो उस विशेष प्रकार की विभावादि की वासना के अनुरूप चित्त से अनुरंजित 'स्व' अर्थात् आत्मा की आनन्दात्मक अनुभूति ही रस है। दूसरे शब्दों में चैतन्य से विशिष्ट रत्यादिभाव विशेष की अनुभूति ही रस है।

स्वात्मपरामर्शरूप यह रस लौकिक सुखों से विलक्षण होता है। अतः इसे दिव्य भी कहा गया है। लोक में पुत्रजन्म आदि से चित्त में हर्षात्मिका वृत्ति उत्पन्न होती है पर काव्य से होने वाली स्वसंविदानन्दचर्वणा विभावादि अर्थों से उत्पन्न न होकर ध्वनित मात्र होती है। अतएव रस को व्यंग्य कहना ही उचित है। रसानुभूति की अलौकिकता का लोक-विरोधी या लोक में न होने वाला निषेधात्मक अर्थ नहीं है। अपितु इससे विलक्षणता मात्र अभिप्रेत है। अंग्रेजी में जिसे 'एक्स्ट्रा आर्डिनरी' कहते हैं संस्कृत में उसे अलौकिक पद से अभिहित किया जाता रहा है। न्यायदर्शन में योगज-प्रत्यक्ष को अलौकिक प्रत्यक्ष की संज्ञा दी गई है।

अभिवगुप्त रसप्रस्थापनाचार्य हैं। इनके अनुसार रस ही काव्य का सर्वस्व अर्थात् उसकी आत्मा है। वस्तु एवं अलंकार ध्वनियां तो उपलक्षण मात्र हैं। इसी प्रकार काव्य तो वस्तुतः दशरूपात्मक (नाट्य) ही होता है। श्रव्य की काव्यता उसकी नाट्यायमानता में निहित होती है।

अभिनवगुप्त के बाद पण्डितराज जगन्नाथ तक का रसविषयक बिवेचन एक प्रकार से पिष्टपेषण ही है। भोज ने रस के विषय में कुछ न कह कर भी रस को ही काव्य का सर्वस्व माना तथा श्रृंगार को रसराज के सिंहासन पर बिठा दिया। मम्मट ने अभिनवगुप्त की सरणि पर रस को ही काव्य की आत्मा होने का विधान तो किया पर उसकी स्वात्मपरामर्शरूपता की चर्चा तक नहीं की। अनन्तर विश्वनाथ कविराज ने पुनः रस को 'चिन्मय' कहकर अभिनवगुप्त की बात का प्रकारान्तर से समर्थन ही किया तथा उसकी आनन्द-रूपता के अनुकूल तर्क भी उपस्थित किए। इन्होंने बताया कि 'रसाः प्रतीयन्ते' की उक्त आपाततः सदोष है क्योंकि इस प्रकार रस आस्वाद का विषय बन जाता है जबकि वह आस्वाद से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतः जिस प्रकार 'ओदनः पचति' में पाक के पूर्व ही ओदन संज्ञा का प्रयोग मात्र औप-चारिक है उसी प्रकार 'रसः आस्वाद्यते' में कर्म वाच्य भी व्यवहार चलाने के लिए काल्पनिक भेद मानकर हुआ है। इस पर उठाई गई एक विप्रतिपत्ति का कि जब रस भी आस्वाद होने से व्यापारात्मक है तथा व्यञ्जना भी व्यापार ही है जिससे रस व्यंजित होता है तो क्या रस और व्यञ्जना एक ही वस्तु हैं? समाधान यह दिया है कि इसके लिए तो वेदान्तियों पर ही आक्षेप करना चाहिए जो ब्रह्म और तद्बोधिका चित्त-वृत्ति दोनों को ज्ञानरूप ही मानते हैं। अथवा इसीलिए तो स्वादनाख्य इस व्यापार को कृति एवं ज्ञप्ति से विलक्षण कहा है।

विश्वनाथ के बाद पण्डितराज जगन्नाथ ने रस के विषय में कुछ मौलिक बात कहने का दावा किया है जिसकी यथार्थता दो बातों में प्रतीत होती है। एक तो यह कि रस रूप में जब साक्षी आत्मा ही रत्यादि भावों से संवलित होकर स्वयं भासित होता है तो विशेष्य उसी के होने से रस को 'चिद्विशिष्टरत्यादि' कहने की अपेक्षा 'रत्याद्यवच्छिन्न चित्' कहना अधिक उपयुक्त होगा।[१३] दूसरी बात यह कि जब रस काव्य की आत्मा ही नहीं साक्षात् जीवात्मा की ही अनुभूति है तो उसमें गुण कैसे रह सकते हैं? क्योंकि आत्मा तो निर्गुण एवं निर्विकार है। इसलिए ध्वनिकार ने जो गुणों को रस का धर्म कहा है वह सर्वथा अनुपयुक्त है।[१४] साथ ही इन्होंने भावों एवं रसों की संख्या पर भी प्रश्न उठाया है और उसे ये भरत से चली आ रही परम्परा का पालन मात्र मानते हैं। अन्यथा यह संख्या अधिक भी हो सकती है।[१५] इनकी दृष्टि में भावों को किसी निश्चित संख्या में निगडित नहीं किया जा सकता।

यह तो हुई ध्वनिसिद्धान्त के अनुयायियों की बात। ध्वनिविरोधियों में से कुन्तक ने स्वभावोक्ति से वक्रोक्ति का भेद कर रस को वैदग्ध्यभङ्गीभणिति मात्र से आस्वाद्य कहा। भट्टनायक ने अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व एवं भोजकत्व दो अन्य व्यापारों का निरूपण कर रसानुभूति की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर प्रकाश डाला। वर्ण्यवस्तु के बिना ही उसके आस्वाद का रहस्य इन्होंने साधारणीकरण व्यापार को बताया जो उनकी अपनी मौलिकता है जिसे सभी स्वीकार करते हैं। भट्टनायक ने रसानुभूति को स्वसंवेदन या आत्मानुभव तो नहीं कहा पर 'आनन्दमयसंवित्' अवश्य कहा है जो अन्तःकरण में रजस् एवं तमस् को दबाकर सत्त्वगुण के उद्रेक से होती है। रस के आस्वाद को इन्होंने योगियों की अनुभूति से भी बढ़कर माना है क्योंकि सहृदय रूपी बछड़ों की तृष्णा से अभिभूत होकर वाग्धेनु इस अमृतोपम दूध को स्वयं प्रदान करती है जबकि योगियों को आत्म-साक्षात्कार के लिए निर्विकल्पक समाधि का आश्रयण

---

१३. वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः। रसगंगाधर, चौ० पृ० ८८

१४. किंचात्मनोनिर्गुणतया आत्मरूपरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम्। वही, पृ० २०६

१५. रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत। वही, पृ० १७६

करना पड़ता है—

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया ।
तेन नास्य समः स स्याद्दुह्यते योगिभिर्हि यः ॥[१६]

ध्वनिविरोधियों के चरमोत्कर्ष महिमभट्ट का मत इन सबसे विलक्षण है। उनका रस को अनुमेय कहना तो श्री शंकुक का ही अनुगमन माना जा सकता है पर रसानुभूति को वे ब्रह्मास्वाद-सहोदर, आत्मानुभूति या आनन्दात्मिका संवित् कथमपि स्वीकार नहीं करते । उनके मत से रस भी काव्यार्थ वस्तु का एक प्रकार का वैषयिक अनुभव ही है। रसानुभूति की सुखात्मकता का रहस्य वर्ण्य-विषय के स्वभाव में ही निहित है । ये जब हमारे अनुभव के साक्षात् विषय होते हैं तो उनसे सुखदुःखमोहादि तत्तद् प्रकार की अनुभूतियां होती हैं। पर वे ही पदार्थ जब काव्य में वर्णित होते हैं तो उनसे मात्र सुखास्वाद होता है। वस्तुओं के इस प्रकार द्विस्वभाव होने की बात अवैज्ञानिक नहीं है। काव्य-रस की यह विलक्षणता ही उसकी अलौकिकता है। महिमभट्ट का कहना है कि रस ही काव्य को काव्य बनाता है। अतः उसकी काव्यात्मता में किसी को विसंवाद नहीं होना चाहिए—काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः। इनकी सबसे विलक्षण बात यह है कि ये रस को काव्य की आत्मा तो मानते हैं पर प्रतिपाद्य नहीं स्वीकार करते। इनके मत से शास्त्रों का जो प्रतिपाद्य है वही काव्य का भी है और वह है कृत्याकृत्य विवेक का उपदेश। शास्त्र से काव्य की भिन्नता प्रतिपादन की सरणि को लेकर होती है। काव्य का प्रकार रसात्मक होता है, शास्त्र का शुष्क तर्क-सम्मत। अतः रस काव्य का उपाय अर्थात् साधन है न कि उपेय अर्थात् साध्य जैसा कि अभिनवगुप्त मानते हैं।

साहित्य-रस का यह विवेचन ऐतिहासिक एवं तात्त्विक उभयदृष्टि से अपूर्ण रह जायगा यदि प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामी द्वारा प्रतिपादित भक्तिरस का उल्लेख न किया जाय । चैतन्य महाप्रभु के विष्णुभक्ति आन्दोलन ने न केवल भारतीय जनमानस अपितु तत्कालीन समूचे भारतीय साहित्य को भी अत्यधिक प्रभावित किया। फलतः लोकभाषाओं के साथ ही संस्कृत में भी विष्णु-भक्ति-परक विपुलसाहित्य की सृष्टि हुई। चैतन्य के पट्टशिष्य रूपगोस्वामी ने साहित्यशास्त्र विषयक **'भक्तिरसामृतसिन्धु'** एवं **'उज्ज्वलनीलमणि'** नामक अपने दोनों ग्रन्थों में काव्यात्मक साहित्य की

१६. ध्वनिकारिका ११६ पर लोचन ।

भक्तिपरक व्याख्या उपस्थित की है। इन्होंने शान्त, प्रीति, प्रेयस्, वत्सल एवं उज्ज्वल आदि नये रसों की परिकल्पना की। भगवद् विषयक भक्ति को रस ही नहीं अपितु सभी रसों में प्रधान कह कर रूपगोस्वामी ने रस-सिद्धान्त के विवेचन में एक नया अध्याय जोड दिया। भरत की व्यवस्था के अनुसार देवादि-विषयक रति रस न होकर भाव की कोटि में रखी जाती रही है। पर रूप-गोस्वामी ने निखिल भक्तजनों के हृदय में सतत अनुभूयमान भगवद्विषयक मधुर रतिभाव को स्थायिभाव कहा है जो विभावानुभाव एवं व्यभिचारिभावों से परिपुष्ट होकर भक्तिरस के रूप में आस्वादित होता है। भगवान् श्रीकृष्ण को आलम्बनविभाव एवं उनकी वल्लभा राधाप्रभृति गोपियों को स्थायीरूप से आश्रय मानकर रसनिष्पत्ति विषयक भरत की पूरी प्रक्रिया भी यहां सांगोपांग रूप से घटा दी गई है। ठीक इसी परम्परा में स्वामी करपात्री जी महाराज ने 'भक्तिरसार्णव' नामक ग्रन्थ की रचना की है जो काव्यरस पर लिखा गया संस्कृत का आधुनिकतम ग्रंथ है। इसमें अद्वैतवेदान्त के आधार पर आध्यात्मिक अनुभूति को ही वास्तविक रूप में रस होने का विधान किया गया है जो अत्यन्त व्यापक है तथा जिसके समक्ष रत्यादिभावों का अनुभूतिरूप रस अत्यन्त तुच्छ ठहरता है। स्वामी जी महाराज का विवेचन अद्भुत है।

३

काव्यरस की शाब्दबोधविषयता

संस्कृत साहित्यशास्त्र की निखिल परम्परा का आलोडन प्रलोडन करने पर निष्कर्ष रूप से काव्य-जन्य अनुभूति के वस्तु, अलंकार एवं रस तीन प्रकार के होने का विधान प्राप्त होता है। वस्तु पद से विधि निषेधादि रूप किसी भी लौकिक अर्थ का ग्रहण होता है। यह अर्थ काव्य में कहीं वाच्य, कहीं लक्ष्य तो कहीं प्रतीयमान के रूप में उपलब्ध होता है। अनुप्रास एवं उपमा आदि अलंकार कहे जाते हैं जो काव्य में विचित्रता की सृष्टि के द्वारा पाठक के मन को आकृष्ट करते हैं। अलंकार सामान्यतया तो वाच्य ही होते हैं पर कहीं कहीं इनका संग्रथन प्रतीयमान के रूप में भी किया गया होता है। रसादि रूप अर्थ सर्वथा प्रतीयमान हो कर ही काव्यबन्ध में सन्निविष्ट रहता है। यह बात ध्वनि-प्रस्थान में पदे-पदे प्रतिपादित हुई है। काव्यजन्य अनुभूति के उक्त तीन प्रकारों में से वस्तु एवं अलंकारों के अभिधा द्वारा प्रतिपादित होने की बात सुतरां प्रसिद्ध है। अतः वस्तु हो या अलंकार अभिधा के द्वारा ही वह व्यक्ति के शाब्द-बोध का विषय बन जाता है। जब ये प्रतीयमान होते हैं तो व्यञ्जना वृत्ति के माध्यम से शाब्दबोध के विषय होते हैं इसमें किसी भी प्रकार का विसंवाद नहीं। क्योंकि जो अर्थ अभिधा के विषय हैं उनके लक्षणा या व्यञ्जना का विषय होने में किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति खड़ी नहीं होती। विप्रतिपत्ति रस के शाब्दबोध का विषय होने में इसलिये खड़ी हो जाती है कि जिन शब्दों के माध्यम से रसात्मक अनुभूति हमें होती है उनका रस रूप अर्थ में संकेत ग्रह न होता है और न हो ही सकता है। कोई भी अर्थ शाब्दबोध का विषय तभी होता है जब उस में किसी शब्द का संकेतग्रह कभी हो चुका होता है। संकेतग्रह का विषय होकर ही कोई शब्द किसी अर्थ का प्रत्यायक हो पाता है। भर्तृहरि ने कहा है—

विषयत्वमनापन्नैश्शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते ।
न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः ॥[1]

---

१. वाक्यपदीय १।५६

अतः शब्द के साथ संकेतग्रह रूप साक्षात्सम्बन्ध न होने से रस रूप अर्थ जब किसी भी अवस्था में वाच्य ही नहीं हो सकता तो वह शाब्दबोध का विषय किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि शाब्दबोधरूप फल के प्रति संकेत-ग्रहात्मक शक्ति-ज्ञान का होना अनिवार्य है। अतः जहाँ पदजन्य पदार्थस्मरण रूप व्यापार सम्पन्न नहीं होता वहाँ शाब्दबोध रूप फल की संम्भावना कैसे हो सकती है। क्योंकि व्यापार ही फलवान् होता है। रसानुभूति के प्रसङ्ग में रस रूप अर्थ के लिये बहुशः प्रयुज्यमान रस या शृंगार आदि पदों से रस-पदार्थ का स्मरण कराने वाला व्यापार संकेत-ग्रह सर्वथा अनपेक्षित होता है, यह बात आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति सभी रसवादी आचार्य भूयोभूयः प्रतिपादित करते हैं। ऐसी स्थिति में भाषा-विज्ञान के उक्त नियम के अनुसार रस को शाब्दबोध का विषय कथमपि नहीं होना चाहिये।

शाब्दबोध का विषय होने का अर्थ है शब्द के द्वारा श्रोता के बोध का विषय होना। साहित्य में सर्वत्र शब्द का ही प्रयोग होता है। कोई भी विचार या भाव शब्द के माध्यम से ही प्रेक्षक या पाठक तक पहुँचता है। भाषा-शास्त्र उसकी प्रक्रिया का निरूपण करता है। उस प्रक्रिया के अनुरूप व्यवस्थित न होने पर विप्रतिपत्ति का उठना सर्वथा स्वाभाविक है। यहाँ रस की शाब्द-बोधविषयता के प्रति प्रक्रियागत यही विप्रतिपत्ति उठायी गई है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि रस यदि शाब्द-बोध के विषय नहीं होते तो इसमें दोष क्या है ? उनका शाब्दबोध का विषय होना उतना महत्त्व-पूर्ण नही है जितना उनसे चमत्कार का आधान होना। काव्य की चारुता में उत्कर्ष का आधान ही रसानुभूति की विशेषता है। शाब्दबोध का विषय न होने से उसकी अनुभूति में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती। प्रत्युत रस के शाब्दबोध का विषय होने से उसकी प्रकृति अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता को आघात पहुंचने की आशंका उत्पन्न हो जाती है।

इसका उत्तर यह है कि काव्यजन्य हर प्रकार की अनुभूति शब्द से ही संभव होती है। "शाब्दी ह्याकांक्षा शब्देनैव पूर्यते" न्याय से रसानुभूति की शब्द-जन्यता का अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता। किसी भी अर्थ के शाब्द-बोध का विषय होने का कोई न कोई प्रकार अवश्य होता है। यदि रसानुभूति के शाब्दबोध का विषय बनने का कोई प्रकार नहीं निकल पाता तो यही मानना होगा कि रसानुभूति काव्य-जन्य अनुभूति नहीं है। ज

शब्दबोध विषयता नहीं वहां काव्यता कहां से रह सकती है ? काव्य से होने वाला सभी प्रकार का अनुभव शाब्दबोध का विषय होता ही है । रस काव्य जन्य अनुभूति मात्र नहीं अपितु वह काव्य की आत्मा भी है । उसकी शाब्द-बोध-विषयता के सम्बन्ध में काव्य-तत्त्व-वेत्ता विद्वानों की विविधप्रकार की प्रतिपत्तियाँ हैं जिनका निरूपण करते हुए यहाँ परीक्षण भी किया जायगा ।

भामह, दण्डी, भट्टोद्भट प्रभृति अलंकारवादी आचार्यों के प्रस्थान में रसादि भी रसवत् आदि के रूप में अलंकारों में ही परिगणित हुए हैं । उनके मत से रसजन्य चमत्कार भी अलंकारता की सीमा का अतिक्रमण नहीं करता । रसादिरूप में अनुभूयमान चारुता उपमा रूपक एवं उत्प्रेक्षा आदि से होने वाली चारुता से सर्वथा भिन्न नहीं होती । उपमा आदि अलंकारों की शाब्द-बोध-विषयता के अभिधा के द्वारा सम्पन्न होने में जैसे किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं होती उसी प्रकार रसवत् आदि अलंकारों के भी अभिधा के माध्यम से शाब्दबोध का विषय होने में विप्रतिपत्ति क्यों हो सकती है ? क्योंकि सभी अलंकार समान रूप से ही काव्य शोभा के आधायक माने गये हैं ।[२]

चूँकि सभी अलंकार अभिधेय कोटि में ही आते हैं अतः उन से होने वाले चारुत्वातिशयात्मक बोध को भी अभिधा के माध्यम से ही शाब्दबोध का विषय स्वीकार कर लिया जाता है । उसी प्रकार रसवत आदि अलंकारों की शाब्दबोध-विषयता का भी चारुता के आधान का निमित्त होने से अभिधा के द्वारा संपन्न होना युक्तियुक्त ही है ।

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार रूढ़ शब्द प्रसिद्धिवश अभिधा से ही उस अर्थ की प्रतीति कराता है जिसके लिये उसका प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार चारुत्वोत्कर्ष के आधायक होने से सभी अलंकार अभिधा के द्वारा ही उस आशय की प्रतीति कराते हैं जिसके लिये उनका उपनिबन्धन किया गया होता है । और इस प्रकार वह अलंकारजन्य चमत्कार अलंकारों के ग्रथन में नियोजित पदावली के शाब्दबोध का विषय हो जाता है । रसवत् आदि अलंकारों के विषय में भी यही सरणि लागू होती है । अर्थात् रसवत् आदि अलंकार अनुभूतिमय जिस चारुता का सृजन करते हैं वह अभिधा के द्वारा ही

---

२. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते । काव्यादर्श २।१

वहाँ प्रयुक्त पदावली से होने वाले शाब्दबोध की विषय बन जाती हैं । इस विवेचन का निर्गलित यही है कि अभिधा के द्वारा ही अन्य अलंकारों की भांति रस भी शाब्द-बोध का विषय बनता है ।

ध्वनिसिद्धान्त के अनुसार रस मात्रव्यङ्ग्य है । वह अभिधा, लक्षणा या तात्पर्य नामक व्यापारों का विषय कथमपि नहीं हो सकता । अपितु केवल व्यञ्जना व्यापार का ही विषय बनता है । इस प्रकार व्यापार-जन्य होने से रस के बोध के प्रति एक विशेष प्रकार की वृत्ति व्यञ्जना का ज्ञान कारण होता है । यद्यपि शब्द के सुनने मात्र से सभी को रसोद्बोध नहीं होता तथापि रसविषयक शाब्दबोध के प्रति रसवत् निरूपित व्यञ्जना वृत्ति के ज्ञान का कारण होने में अतिप्रसङ्ग के होने का निराकरण महावैयाकरण नागो जी भट्ट ने परमलघुमञ्जूषा में स्पष्ट रूप से किया है ।[3]

समर्थसूत्रभाष्य में जो कहा कि गुड़ शब्द के उच्चारण करने से ही उसकी मधुरता किस प्रकार की है इसका ज्ञान नहीं हो जाता[४], उसकी सङ्गति भी तभी बैठती है जब हम नागो जी भट्ट की उक्त बात को स्वीकार कर लेते हैं कि किसी विषय के शाब्दबोध के प्रति उसके साथ निरूपित वृत्ति का ज्ञान ही कारण होता है । गुड़ शब्द को सुनकर मधुरता का जो बोध होता है वह संकेतग्रह के द्वारा नहीं हो सकता । क्योंकि गुड़ पद के प्रयोग से 'गुडत्व जाति से युक्त पदार्थ गुडपद का वाच्य हैं' यही बोध होता है जो मात्र जाति प्रकारक है । उसकी मधुरता का ज्ञान तो 'गुड़ मीठा है क्योंकि ईख से बनता है,' इसप्रकार के अनुमान के द्वारा ही होता है । इसी प्रकार तद् तद् रसों के अनुरूप प्रयुक्त विभावादि संयोजनपरक दृष्टान्तों एवं शकुन्तला आदि पदों से होने वाले रत्यादि स्थायिभावों के अनुभवात्मक बोध के प्रति दुष्यन्त आदि पदों की हेतुता उपपन्न न होने पर भी व्यञ्जना वृत्ति ही निमित्त होती है । अर्थात् रत्यादि भावों के अनुभवात्मक बोध रूपी अर्थ में विभावादि के लिये प्रयुक्त दुष्यन्त व शकुन्तला आदि पदों के संकेत ग्रह के न होने पर भी उक्त न्याय से व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा रत्यादि भावों का वह अनुभव दुष्यन्त व शकुन्तलादि पदों के शाब्दबोध का विषय बन जाता है । इस प्रकार व्यञ्जना

---

३. तद्धर्मावाच्छिन्नविषयकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तद्धर्मावच्छिन्न-निरूपितवृत्तिविशिष्टज्ञानं हेतुः । परमलघुमञ्जूषा (बड़ौदा) पृ० २७

४. नहि गुड इत्युक्ते मधुरत्वं प्रकारतया गम्यते ।
व्या० म० भा० २।१।१

वृत्ति के द्वारा ही रस के शाब्दबोध का विषय बनने में न तो कोई दोष दिखाई देता है न ही कोई विप्रतिपत्ति खड़ी होती है।

काव्य-रस लौकिक व्यवहार का विषय न होने से वह स्वशब्द से कदापि वाच्य नहीं हो सकता। होता क्या है कि शब्द पहले अपने अर्थ विभावादि का सर्वथा समर्पण कर देते हैं अनन्तर ही उनके अर्थ विभावादि का सहृदय सामाजिकों के हृदय में संवाद होता है जिससे विभावादि में एक विलक्षण प्रकार के सौन्दर्य का आधान हो जाता है। उससे सहृदयों के हृदय में पूर्वतः विद्यमान रत्यादि स्थायिभावों के उद्रेक के द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म भी आत्मचैतन्य की आनन्दात्मक चर्वणा (आस्वाद) होने लगती है। अनुभवात्मक उसी चर्वणा व्यापार से आस्वादनीय होता हुआ भी रस व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा शाब्दबोधका विषय हो जाता है क्योंकि उसका बोध केवल काव्यात्मक व्यापार में ही अर्थात् काव्य से ही संभव है।

कुमारिल भट्ट के अनुयायी भट्टलोल्लट प्रभृति मीमांसक धुरीणों का अपना अलग ही मत है। उनका कहना है कि रस की प्रतीति एक नूतन सृष्टि के रूप में होती है जिसे मीमांसा की परिभाषा में नैमित्तिक कहते हैं। निमित्त और नैमित्तिक सामान्य रूप से कारण एवं कार्य को ही कहा जाता है। काव्य में रस रूपी नैमित्तिक होता है। यहां (काव्य में) यह नैमित्तिकनिमित्त-भाव बोध्य-बोधक भाव के रूप में ही होता है। शब्द से रसादि की बोधकता रूप निमित्तता वृत्ति के बिना संभव नहीं। अतः वहाँ भी अभिधा वृत्ति ही प्रवृत्त होती है। 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्पन्ते' तथा ''सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतराभिधा व्यापारः' इन दोनों न्यायों का यही अभिप्राय है। अभिधा-वृत्ति का दीर्घदीर्घतर यही व्यापार है कि शब्द से वाच्य एवं उससे भी आगे व्यंग्य रूप रसादि का बोध उत्पन्न हो जाय। इस प्रकार अभिधा वृत्ति के द्वारा ही शब्द-रूपी निमित्त से नैमित्तिक के रूप में काव्य जन्य रसात्मक बोध भी गृहीत होकर शाब्दबोध का विषय स्वतः हो जाता है। यह उनका स्पष्ट मत है।

काव्यप्रकाश के अन्यतम टीकाकार महेशचन्द्र ने अपनी 'विवरण' नामक टीका में मीमांसकों के उपर्युक्त मत की आलोचना करते हुए साहित्यिक धुरीण ध्वनिवादियों के मतानुसार रसादिध्वनियों की शाब्दबोधविषयता का निरूपण करते हुए कहा है कि व्यङ्ग्य की उद्भावना में ज्ञापकरूप से शब्द के निमित्त होने की बात हम (ध्वनिवादियों) को भी मान्य है। उसके विषय में हमारा कोई भी विवाद नहीं है। किन्तु व्यञ्जना को स्वीकार न करने पर रसोद्बोध का निमित्त कौन है इसका निश्चय नहीं हो पायेगा। फलतः व्यङ्ग्यार्थ

की नैमित्तिकता सिद्ध नहीं हो पायेगी। क्योंकि निमित्त-नैमित्तक-भाव भी किसी व्यापार के आधार पर ही बना रह सकता है। यदि व्यापार के बिना ही शब्द की निमित्तता बन जाती हो तो अभिधा और लक्षणा दोनों को ही तिलाञ्जलि क्यों न दे दी जाए।[५]

ध्वनि-प्रस्थान के आचार्यों ने अपनी कृतियों में यह बात बहुशः प्रतिपादित की है कि शब्द के साथ संकेतग्रह न होने तथा मुख्यार्थबाध आदि हेतुत्रय के न बनने से रस अभिधा और लक्षणा व्यापारों का विषय कथमपि नहीं हो हो सकता। व्यञ्जनाव्यापार में संकेतग्रह या मुख्यार्थबाध आदि की तरह के किसी प्रतिबन्ध के न होने से रसादि की व्यञ्जनीयता तथा उसी के माध्यम से शाब्द-बोध-विषयता स्वतः उपपन्न हो जाती है।[६]

श्री शङ्कुक के अनुयायी रसानुमितिवाद के दृढ़ समर्थक व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने रस की शाब्दबोधविषयता का प्रतिपादन एक अन्य प्रकार से ही किया है। उनके अनुसार शब्द और अर्थ के बीच एक साध्यसाधन भाव काम करता रहता है जो सामान्य रूप से शब्दार्थ-सम्बन्ध में सर्वत्र विद्यमान रहता है। इसके अनुसार अर्थ साध्य एवं शब्द साधन होते हैं। शब्दार्थ का साध्यसाधनभाव रूप यह सम्बन्ध प्रत्येक स्थल में किसी न किसी विशेष युक्ति अर्थात् तर्क का अनुसरण करता है। उस युक्ति को समझे विना कोई भी व्यक्ति चाहे वह कितना भी बड़ा विद्वान् क्यों न हो वचन के सुनने मात्र से अर्थ की प्रतीति का भागी नहीं हो पाता। क्योंकि शब्द प्रायः क्रियाप्रधान ही होते हैं। एक क्रिया नाना अर्थों की बोधिका होती है पर शब्द किसी एक ही अर्थ में जो प्रयुक्त होता है उसका कोई रहस्य अवश्य है। उसी रहस्य को यहाँ युक्ति कहा गया है जिसके द्वारा ही शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। अतः इनके मतानुसार सभी प्रकार का शाब्द-व्यवहार अनुमान रूप ही होता है। क्योंकि उसमें साध्यसाधनभाव सदा गर्भित रहता है। साध्यसाधनभावरूपता ही अनुमान का बीज है। साध्यसाधनभाव के अखण्ड होने से वह पद में संभव नहीं होता। अतएव शाब्दव्यवहार के लिए सदा वाक्य का ही आश्रयण किया जाता है।[७]

पद और वाक्य दोनों ही शब्द के भेद माने जाते हैं। पद के ही अर्थ की

---

५. काव्यप्रकाश पञ्चमउल्लास।

६. नाभिधा समयाभावात्, हेत्वभावान्न लक्षणा। का० प्र० २।१५

७. व्यक्तिविवेक, प्र० वि० पृ० २१-२२ (चौख० मधुसूदनी वृत्ति सहित)

संज्ञा वाच्य है क्योंकि अभिधा की प्रवृत्ति पद तक ही सीमित होती है। वाच्य रूपी अर्थ एवं उसके बोधक शब्द के बीच निहित साध्यसाधनभाव ही संकेतग्रह कहलाता है। पदसमूहात्मक वाक्य से होने वाली वाक्यार्थ की अखण्ड प्रतीति अभिधा से न होकर अनुमान के द्वारा होती है। अतः वह सर्वथा अनुमेय ही होती है। काव्यजन्य रसादि की प्रतीति भी वाक्यार्थ के रूप में ही होती है। अतः वह भी अनुमेय ही सिद्ध होती है। अनुमितिवादी आचार्य महिमभट्ट को भी इष्ट है कि काव्य में वाक्यार्थ वस्तु, अलंकार एवं रस तीन रूपों में उपलब्ध होता है। वस्तु या अलंकार रूप वाक्यार्थ में साध्य एवं साधन की प्रतीति में क्रम सुतरां लक्षित होता रहता है पर रसादि जब अनुमेय होते हैं तो उनके एवं विभावादि के बीच निहित गम्यगमकभाव (साध्यसाधनभाव) अलक्ष्य ही बना रहता है। इसीलिये वाक्य रूप विभावादि एवं उन के अर्थ रूप रसादि के एक साथ ही प्रतीति का विषय होने की भ्रान्ति हुआ करती है।[८]

इस प्रकार रस भी वस्तु एवं अलंकार के समान ही वाक्यार्थ के रूप में परामृष्ट होकर मुख्यवृत्ति से ही शाब्दबोध का विषय होता है। वैशेषिक सूत्रकार कणाद मुनि ने भी 'एतेन शाब्दं व्याख्यातम्' सूत्र से शब्द से होने वाले ज्ञान की गतार्थता लिङ्गलिङ्गिज्ञान रूप अनुमान में ही प्रतिपादित की है। अतः जिस प्रकार पदात्मक शब्द से साध्यसाधनभाव के द्वारा बोध्यमान वाच्यार्थ की शाब्दबोधविषयता मुख्यवृत्ति से ही बन जाती है उसी प्रकार गमक रूप में उपन्यस्त वाक्यात्मक शब्द विभावादि के द्वारा गम्य आस्वादनात्मक रसादि की शाब्दबोधविषयता भी मुख्यवृत्ति से ही उपपन्न हो जाती है। व्यक्तिविवेककार को यही मत सम्मत है।[९]

रसगङ्गाधर कार ने भी रस की व्याख्या करते हुए महिमभट्ट के उक्त मत का समुल्लेख किया है। उनका निर्देश है कि रसबोध में उसके विशेषणीभूत रत्यादि अथवा उनके वाचक रत्यादि पदों का प्रयोग उतना उपकारक नहीं होता जितने चेष्टा आदि लक्षण होते हैं जिनके द्वारा रस का बोध विशेषण से विशेष्य के बोध के समान अनुमान की कोटि में ही आता है। अतः इसका सम्यक् रूप से ऊहापोह होना चाहिये।[१०]

---

८. व्यक्तिविवेक पृ० ८०

९. वही पृ० ८०

१०. रसगङ्गाधर पृ० १३६ (हिन्दूविश्वविद्यालय)

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसप्रतीति के स्वरूप का ऊहापोह करते हुए प्रश्न उठाया है कि यह प्रतीति क्या है ? काव्य से होने वाली अनुभूति के प्रसंग में शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण के वहां अनुपस्थित होने से यह उत्तर सर्वथा स्वाभाविक है कि वह प्रतीति शाब्दी अर्थात् शब्द से होने वाली है। किन्तु नायक व नायिका के मिथुनवृत्तान्त को बताने के लिये जब हम इन शब्दों का प्रयोग करते हैं तो उससे उस प्रकार की मनोहर प्रतीति उत्पन्न नहीं होती जो काव्य से होती है। काव्य से तो वह प्रतीति सर्वथा हृद्य ही होती है। इसलिये काव्य से होने वाली हृद्यात्मक प्रतीति को शाब्दी अर्थात् शब्द से होने वाली नहीं मानना चाहिये। इस प्रकार रसात्मक बोध जब शब्दजन्य नहीं सिद्ध होता तो उसकी शाब्दबोधविषयता कैसे सिद्ध होगी ? इस पर पण्डितराज ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि काव्यजन्य रसादिबोध रूप आनन्दात्मिका इस अनुभूति को शब्दव्यापार जन्य न मानने में कोई हानि नहीं है।[११] फलतः रस की शाब्द-बोध-विषयता अपने में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती।

उपर्युक्त विवेचन का निम्नलिखित एकादश कारिकाओं में संग्रह—

तदिदं विस्तरस्यास्य तात्पर्यमवधार्यते।
विषयत्वे शाब्दबोधस्य रसादीनामवस्थितौ ॥१॥

अलंकारे यदा तेषामन्तर्भावं समीहते।
अभिधावृत्तिद्वारैव विषयत्वं तेषु वर्तताम् ॥२॥

रसादिबोधे शब्दानां निमित्तत्वं न हीयते।
नैमित्तिकानुसारेण तेषां संकल्पना यतः ॥३॥

शाब्दी रसादेराकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्यते।
मुख्यवृत्तिपरित्यागः कथं वा तत्र युज्यते ॥४॥

साध्यसाधनभावेन रसादेरनुमेयता।
मुख्यवृत्याऽवसीयेत व्यक्तेरनुपपत्तितः ॥५॥

न व्यापारमनादृत्य शाब्दबोधः प्रवर्तते।
अभिधा लक्षणा वा स्याद्व्यापारो व्यञ्जनात्र वा ॥६॥

रसादीनामवाच्यत्वमलक्ष्यत्वं यतो मतम्।
ततः स्यात्तत्रनिहितो व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ॥७॥

---

११. तेन रसास्वादस्य काव्यव्यापाराजन्यत्वेऽपि न क्षतिः। रस०पृ०१३९-१४०

तदद्वारेणैव शाब्दत्वं रसादीनामिति स्थितिः ।
ध्वनिप्रस्थापनग्रन्थे ध्वन्यालोके निरूपिता ।।८।।

साध्यसाधनभावेन, शक्त्या भक्त्याऽथ व्यक्त्या वा ।
शब्दव्यापारविषया न भवन्ति रसाः क्वचित्।।९।।

भग्नावरणरूपा या चितेर्व्यक्तिः समाश्रिता ।
रत्याद्यनवच्छिन्नायाश्चितः स्याच्छाब्दता कुतः ।।१०।।

पञ्चैवैते मया पक्षा अध्यायेऽस्मिन्निरूपिताः ।
विषयत्वे शाब्दबोधस्य रसादीनां समन्ततः ।।११।।

४

रसानुभूति के पर्याय

विश्रान्ति

विश्रान्ति पद का प्रयोग नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में सामान्य रूप से नाट्य के प्रसङ्ग में हुआ है—

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति ॥[1]

यहाँ नाट्य को रोग आदि से होने वाले दुःख, रास्ता चलने आदि से होने वाले श्रम तथा बन्धु-मरण आदि से होने वाले शोक से पीड़ित प्रेक्षक को तथा अनवरत चान्द्रायण आदि व्रतों के आचरण से परिखिन्नहृदय तपस्वियों के लिये विश्रान्ति दायक बताया है। विश्रान्ति का अर्थ दुःख का निरोध है जिसकी परिणति धृति आदि के रूप में होती है। अतएव उन्हें आह्लादक माना जाता है। नाटक देखकर शोक से पीड़ित को धृति, रोगार्त को क्रीड़ा, थके हुए को सुख तथा तपस्वी को मतिविबोध प्राप्त होता है। इस प्रकार यहाँ विश्रान्ति का अभिप्राय दुःख विघातपूर्वक धृति आदि के रूप में आह्लाद की अनुभूति है।

विश्रान्ति पद का प्रयोग रससूत्र की व्याख्या में भट्टनायक ने भी किया है–

...सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन...भोगेन परं भुज्यत इति।[2]

यहाँ पर विश्रान्ति पद का अलग से प्रयोग न करके 'निजसंविद्विश्रान्ति' का प्रयोग किया है जिसका अभिप्राय है उस क्षण में होने वाले बोध में 'व्यक्ति की तल्लीनता'। निजसंविद्विश्रान्ति पद भी यहाँ भोग के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। भोग पद भी आस्वाद का पर्याय है अतः एक पारिभाषिक पद भी, जिसका विवेचन आगे किया जाएगा।

इस प्रकार नाट्यसामान्य के प्रसंग में प्रयुक्त विश्रान्ति पद के अर्थ से रसानुभूति के प्रसंग में प्रयुक्त विश्रान्ति पद के अर्थ में अन्तर स्पष्ट है। इसको

---

१. ना० शा० १।११४
२. अभिनवभारती, (बड़ौदा) पृ० २७७

हम दूसरे प्रकार से यों कह सकते है कि नाट्यशास्त्र के मूल में प्रयुक्त विश्रान्ति शब्द के अर्थ से रस-सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में भट्टनायक के द्वारा प्रयुक्त विश्रान्ति शब्द का अर्थ स्पष्टतया भिन्न है। नाट्यशास्त्र का अर्थ है दुःखापसरण पूर्वक सुखात्मक बोध। जब कि भट्टनायक की व्याख्या में प्रयुक्त विश्रान्ति पद का अर्थ व्यक्ति की अपने ही बोध में होने वाली तल्लीनता है, जिसे हम 'अपनी ही अनुभूति में खो जाना' कह सकते हैं।

निष्पत्ति

रस के प्रसङ्ग में निष्पत्ति पद का प्रयोग सबसे पहले रससूत्र में ही हुआ है। 'तत्र विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'। यह सूत्र नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में रस के लक्षण के रूप में उपलब्ध होता है। निस् पूर्वक पद् धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर सम्पन्न निष्पत्ति पद का अर्थ 'बनना' या 'होना' है। नाट्यशास्त्र के इसी षष्ठ अध्याय में इसके दो और प्रयोग हुए हैं। दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार आयुर्वेद में अनेक प्रकार के औषधिद्रव्य के संयोग से रसनिष्पति होती है उसी प्रकार अनेक भावों के उपगम से नाट्य में भी रस की निष्पत्ति होती है[3]। यहाँ उपगम पद संयोग के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

इस दृष्टान्त के द्वारा रस-सूत्र में प्रयुक्त संयोग एवं निष्पत्ति पदों के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। पर ग्रन्थकार को स्वयं ऐसा प्रतीत हुआ कि इनका अर्थ अभी स्पष्ट नहीं हो पाया है। इसलिये उसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे गुड़ आदि व्यंजन द्रव्यों एवं औषधियों से षाडव आदि रस बनते हैं उसी प्रकार अनेक भावों से संवलित होकर ही स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होते हैं।[४]

इस दृष्टान्त से निष्पत्ति का अर्थ अधिक स्पष्ट हुआ है और वह है 'किन्हीं सहायक वस्तुओं के योग से किसी विशिष्ट वस्तु की दूसरी वस्तु के रूप में परिणति'।

---

३. यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। ना० शा० (बड़ौदा) पृ० २८७

४. यथाहि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति। वही पृ० २८८

नाट्यशास्त्र के इस विवेचन को सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर इसमें दृष्टान्त और दार्ष्टान्ति में असमानता पायी जाती है। दृष्टान्त में गुड़ आदि व्यंजन द्रव्य एवं ओषधियों से षाडव आदि रस बनते हैं। षाडव रस के एक प्रकार का नाम है। पर दार्ष्टान्ति में अनेक भावों से उपगत होकर स्थायी भाव का ही रसत्व प्राप्त करना बताया है। इस निरूपण में जो वैषम्य है उससे निष्पत्ति पद के अर्थ के विषय में विसंवाद खड़ा होता है। यही कारण है कि नाट्यशास्त्र के टीकाकार इसके अर्थ के प्रति एकमत नहीं हो पाते।

भट्टलोल्लट का स्पष्ट मत है कि निष्पत्ति स्थायी भाव की ही विभावानुभाव से उपचित होकर रसरूप में परिणति है[५]। अपनी व्याख्या के समर्थन में लोल्लट ने दण्डी के काव्यादर्श से उद्धरण दिये हैं जिनमें अनेक प्रकार के रूपों अर्थात् आलम्बनोद्दीपनात्मक छबियों एवं कटाक्षभुजक्षेप आदि क्रियाकलापों के योग से सहृदय सामाजिक के हृदय में उत्पन्न रति भाव ही शृंगार रस को प्राप्त हो जाता है।[६] व्यक्ति का क्रोध भाव ही जब विभावादि के योग से पराकोटि को प्राप्त हो जाता है तो रौद्र रस का रूप धारण कर लेता है।[७]

निष्पत्ति की व्याख्या में भट्टलोल्लट को भी अटकाव का अनुभव हुआ था। उन्हें भी वही बात खटकती रही कि षाडव आदि रस में स्थायी भाव जैसी कोई मुख्य वस्तु के रस होने की बात नहीं होती। इसका समाधान उन्होंने यह कहकर दिया कि दृष्टान्त में भी व्यंजन आदि में से किसी एक में स्थायी के समान वासनात्मकता रहती है।[८] इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि अनेक व्यंजन द्रव्यों को मिलाकर षाडव आदि रस बनते हैं पर उनमें से किसी एक की प्रमुखता अवश्य रहेगी जिसकी मात्रा अन्यों की अपेक्षा अधिक होती होगी। वही काव्यरस के स्थायी के समान है। अतः स्थायी ही विभावादि से उपचित होकर रस के रूप में परिणत हो जाता है। स्थायी की रस रूप में उपचिति ही रस-निष्पत्ति है।

श्री शङ्कुक रस की निष्पत्ति को इतना सरल नहीं मानते कि काव्य में अनुभावादि का वर्णन कर दिया और स्थायी भाव रस बन गया। चूँकि रत्यादि

---

५. तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। अभिनव भा० पृ० २७२

६. रतिः शृङ्गारतां गता। रूपबाहुल्ययोगेन। काव्यादर्श २।२८१

७. अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः। वही २।२८३

८. दृष्टान्तेऽपि व्यंजनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्।
अ० भा० पृ० २७२

स्थायी भाव के रस के रूप में उपचित होने के कारण विभावादि वास्तविक नहीं होते अतः कृत्रिमविभावादि से स्थायीभाव की रस के रूप में परिणति कैसे हो सकती है ? नाट्य में अभिनेता अनुकर्ता होता है । उसके द्वारा प्रयत्नपूर्वक विभावादि का अभिनयात्मक ऐसा अनुकरण होता है कि वे सहृदय सामाजिक के चित्त में स्थायी रूप से विद्यमान पर सुप्त रत्यादि भावों की अनुमिति कराने में लिङ्ग का काम करने लग जाते हैं । लिङ्ग को देखकर लिङ्गी का अनुमान सहज हो जाता है । लिङ्गी रत्यादि स्थायी भाव हैं । इस प्रकार विभावादि लिङ्ग से रत्यादि लिङ्गी की अनुमिति ही रस की निष्पत्ति है । रत्यादि स्थायी भावों के उद्बोध के साक्षात्कारणों के विद्यमान न होने पर भी उनके अभिनयात्मक अनुकरण के द्वारा जब रत्यादि का उद्बोध होता है तो उसे रति हास क्रोध आदि न कहकर रस कहते हैं । अनुकरण रूप होने से ही इसकी संज्ञा रत्यादि से बदलकर शृंगारादि रस हो जाती है ।[९]

अभिनयात्मक अनुकरण से अनुकार्य एवं अनुकर्ता के भिन्न-भिन्न होने की धारणा सामाजिक के मन से अन्तर्हित हो जाती है तथा मन में कुछ ऐसी युक्तियाँ घर कर लेती हैं कि दोनों एक प्रतीत होने लगते हैं । जिसके परिणामस्वरूप रत्यादि स्थायिभावों का साक्षात् अनुभव स्फुरित होने लगता है । श्री शंकुक की दृष्टि से यही रसनिष्पत्ति है ।[१०] श्री शंकुक ने निष्पत्ति पद का प्रयोग कहीं नहीं किया है । अपितु उसकी व्याख्या मात्र की है और वह है अभिनयात्मक अनुभूति या अनुभवात्मक अनुमिति । इनके रससूत्र का अर्थ हुआ—विभावादि के लिङ्गलिङ्गिभाव अर्थात् ज्ञाप्यज्ञापक भाव रूप संयोग से रस की अनुमिति अर्थात् ज्ञप्ति होती है ।

भट्टनायक के मत से विभावानुभाव एवं व्यभिचारिभाव का साधारणीकरण ही उनका सम्यक् रूप से योग संयोग है । उससे सहृदय सामाजिक के

---

९. ...लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायी भावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः । अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः । अभिनवभारती पृ० २७२

१०. प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः ।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि ॥
विरुद्धबुद्धिसंभेदादविवेचितसंप्लवः ।
युक्तया पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया ॥
अभिनव-भारती पृ० २७३

हृदय में विद्यमान रजस् एवं तमस् भावों को दबा कर सत्त्व का उद्रेक होना तथा उससे रत्यादि स्थायी भाव से संवलित आत्मचैतन्य का भोगात्मक साक्षात्कार ही रस की निष्पत्ति है। रत्यादि सहित आत्मचैतन्य के अनुभव का विषय होना ही निष्पत्ति है।[11]

अभिनव गुप्त के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ है चिदान्दविशिष्ट रत्यादि भावों का सहृदय के अन्तः करण में प्रकाशन। जो विभावादि के द्वारा उनके व्यंजित होने पर ही सभव होता है। यह रस स्वात्मा ही है उसका अनुभवात्मक परामर्श ही स्वप्रकाश है। विभावादि के द्वारा रत्यादि की व्यंजना होने पर ही यह संभव होता है।[12]

कुछ अनात्मवादी व्याख्याकार मानते हैं कि विभावादि के द्वारा चित्त में भावना विशेष का संचार ही उनका संयोग है जिससे दूष्यन्त आदि की रति की ही सहृदय के मन में उत्पत्ति रूप रस की निष्पत्ति होती है। इससे भी आगे बढ़कर रस-निष्पत्ति की व्याख्या का एक पक्ष यह भी है कि विभावादि के ज्ञान से सामाजिक को होने वाला एक विशेष प्रकार का ज्ञान ही रस की निष्पत्ति कहलाता है। विभावादि के सम्बन्ध से प्रेक्षक या पाठक के ऊपर रत्यादि भावों का आरोप ही निष्पत्ति है जो अनुभवात्मक होती है। अथवा विभावादि के समुदाय अर्थात् एकीभाव को ही रस निष्पति पद से कहा जाता है। अथवा विभावादि का सम्यक् रूप से योग अपने में ही एक चमत्कार है। उसी से रस रस कहलाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निष्पत्ति पद के अनेक प्रकार से अर्थ किये गये हैं जिनमें ज्ञान, आरोप, चमत्कार, अभिव्यक्ति, अनुमिति, उत्पत्ति एवं भुक्ति विशेष हैं।

आस्वाद

रस के प्रसंग में आस्वाद पद का प्रयोग प्रायः किया जाता है। स्वयं नाट्य शास्त्र में काव्य के प्रसंग में रस पद के प्रयोग का हेतु उसकी आस्वादनीयता को

---

११. रसस्य स्थाय्युपहितसत्त्वोद्रेकप्रकाशितस्वरूपानन्दरूपस्य, निष्पति-भोगाख्येन साक्षात्कारेण विषयीकृतिः। रसगंगाधर पृ० ११७

१२. रसस्य चिदानन्दविशिष्टस्थाय्यात्मनः स्थाय्युपहितचिदानन्दात्मनो वा निष्पत्तिः स्वरूपेण प्रकाशनम्। रसगंगाधर पृ० ११७

बताया है—**रस इति कः पदार्थ उच्यते, आस्वाद्यत्वात्।** इसका अर्थ यह है कि आस्वाद्य होने से ही रस को रस कहते हैं अथवा रस का शाब्दिक अर्थ आस्वाद्य होना है। श्रृंगारादि को रस इसीलिये कहते हैं कि नाट्य में वे ही आस्वाद्य हैं। यह मुनियों के इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि नाट्य में जिन्हें रस कहा जाता है उनमें रसत्व किस प्रकार है?

> ये रसा इति पठ्यन्ते नाट्ये नाट्यविचक्षणैः।
> रसत्वं केन वै तेषामेतदाख्यातुमर्हसि ॥[१३]

आगे नाट्यशास्त्र में ही बताया है कि रस का आस्वाद किस प्रकार होता है। विविध प्रकार के व्यंजनों को खाने से लोग जिस प्रकार विविध प्रकार के रसों का आस्वाद करते हैं और प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकार नाट्य में भावों के अभिनय से व्यंजित स्थायिभावों का आस्वाद प्रेक्षक करते हैं और प्रसन्न होते हैं। इसीलिए नाट्य में इन्हें भी रस कहते हैं।[१४] इससे यह स्पष्ट है कि श्रृंगार आदि को रस संज्ञा की प्राप्ति काव्य में उनकी आस्वादनीयता के कारण है।[१५]

यहाँ रस को आस्वाद्य कहा है जिसका अर्थ है आस्वाद का विषय होना। पर रस तो अनुभवमात्र है वह विषय कैसे हो सकता है? अतः आचार्यों ने इसे आस्वाद की ही संज्ञा दी है। विश्वनाथ ने 'ओदनः पचति' के समान ही इसे भी लाक्षणिक प्रयोग माना है। ओदन तो पक जाने पर कहा जाना चाहिये पर पकने के पूर्व ही जिस प्रकार उसे ओदन कहा जाता है उसी प्रकार आस्वाद को ही रस कहना चाहिये। पर वस्तुएँ आस्वाद्य होती हैं इसीलिये उसके अनुकरण पर ही इसे भी आस्वाद्य कहा गया है। अन्यथा रस तो साक्षात् आस्वादनात्मक अनुभव ही है।[१६]

धनंजय ने रसानुभूति के स्वाद पक्ष को विशेष रूप से ग्रहण किया है। भरत की तरह वे भी स्वाद्य होने से ही उसे रस कहते हैं—**रसः स एव स्वाद्यत्वात्।**[१७] इस स्वाद्यता की पुष्टि इस बात से भी होती है कि यह केवल

---

१३. ना० शा० ६।२
१४. भरतनाट्यशास्त्र, बड़ौदा पृ० २८८
१५. नाट्यशास्त्र ६।३२, ३३
१६. आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते।
अभिनवभारती पृ० २७७
१७. दशरूपक ४।१८

रसिक अर्थात् सहृदय सामाजिक का अनुभव है—'रसिकस्यैव वर्तनात्'।[18] किसका आस्वाद रस है? इसका धनञ्जय ने बहुत ही स्पष्ट विवेचन किया है। विभावादि के द्वारा भावित होकर सामाजिक के ही रत्यादि आस्वादित होने लगते हैं।[19] जिस प्रकार बच्चे मिट्टी के बने हाथी घोड़ों से जब खेलते होते हैं तो उन्हें जो आस्वाद मिलता है वह उनके अपने उत्साह का ही अनुभव होता है उसी प्रकार अर्जुन आदि के वृत्तातों को सुनकर या देखकर प्रेक्षकों का अपना उत्साह ही अपने आस्वाद का विषय हो जाता है—

क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः।
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतॄणामर्जुनादिभिः॥[20]

किन्तु 'स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः' की उन्हीं की उक्ति इस स्वाद को आत्मानन्द से उत्पन्न बताती है। फिर यह स्वाद स्थायी भाव का है या आत्मानन्द का? इस विषय में धनिक ने स्वाद की व्याख्या सूक्ष्म रूप से की है। उनका कहना है कि विभावादि से संसृष्ट अर्थात् प्रोद्भूत स्थायी ही काव्यार्थ है। उसका भावक (सहृदयसामाजिक) के मन से जब सम्भेद होता है अर्थात् काव्यार्थ और सामाजिक का हृदय दोनों परस्पर संवलित होते हैं और परिणामस्वरूप जब स्व और पर का भान मिट जाता है तो प्रबलतर स्वानन्द की उद्भूति होती है वही स्वाद है।[21]

महिमभट्ट ने भी रसानुभूति को सुखास्वाद कहा है। वे रस को अनुमेय कहते हैं तथा विभावादि को उसका अनुमापक लिङ्ग। लोक में भी लिङ्ग से शोक आदि का अनुमान किया जाता है पर वहाँ तो सुखास्वाद का रंचमात्र भी अनुभव नहीं होता। प्रत्युत साधुमहात्माओं को भी भय आदि से दुःख ही होता है। इसका उत्तर दिया है कि लोक से काव्य की यह विशेषता वस्तु के इस स्वभाव के कारण है कि जब वह साक्षात् अनुभव का विषय होती है तो उसका स्वाद सुखद या दुःखद हुआ करता है। पर वही वस्तु जब

---

१८. दशरूपक ४।३८

१९. काव्याद्विभावसंचार्यनुभावप्रख्यतां गतैः।
भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः॥ वही ४।४७

२०. दशरुपक का० ४।४

२१. काव्यार्थेन विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः संभेदे अन्योन्यसंवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः स्वादः। दशरूपक ४।४३ पर अवलोक।

विभावादि के द्वारा काव्य में निरूपित होती है तो उससे होने वाला आस्वाद मात्र सुखात्मक होता है।[२२]

महिमभट्ट वस्तुवादी आचार्य हैं। वे रसास्वाद को मात्र सुखद अवश्य मानते हैं पर उसे वर्ण्यवस्तु या काव्यवस्तु का स्वभाव कहते हैं। आत्मा की अनुभूति नहीं। इसीलिये वे उसे आनन्द या ब्रह्मास्वादसहोदर आदि कुछ नहीं कहते। उनके मत से काव्यार्थ का ही आस्वदनात्मक अनुभव रस है। महिमभट्ट ने रसास्वाद को सचेतन चमत्कार कारी कहा है जो उसके स्वरूप का निरूपण है । सचेतन अर्थात् सहृदय के हृदय में चमत्कार के आधान का कारण रसस्वाद है।[२३]

विश्वनाथ आस्वादन के अतिरिक्त रस की किसी भी रूप मैं सत्ता नहीं स्वीकारते। उनका कहना है कि 'रसः स्वाद्यते' यह प्रयोग अशुद्ध है क्योंकि आस्वाद ही तो रस है। अतः वह आस्वाद्य अर्थात् आस्वाद का विषय कैसे हो सकता है? अतः रस एवं आस्वाद में यह भेद कल्पनिक है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने कमनीय काव्यव्यापार से उत्पन्न आस्वाद को अन्य सभी प्रकार के अनुभवों से भिन्न अर्थात् विलक्षण बताया है—

विलक्षणो हि कमनीयकाव्यव्यापारज आस्वादः प्रमाणान्तरजादनुभवात्।[२४]

भरत ने रस को आस्वाद्य कहा था उसी सरणि पर आन्दवर्धन ने प्रतीयमान को स्वादु कहकर उसकी महिमा गाई। धनञ्जय ने इसे आत्मानन्द से जायमान एक विशेष प्रकार का स्वाद ही कहा। पर इनकी आत्मा और अभिनवगुप्त के 'स्वात्म' में अन्तर है । धनंजय की आत्मा व्यक्ति का मन ही है। यही उसका 'स्व' है। धनिक ने अपनी व्याख्या में स्पष्ट कर दिया है कि 'आत्मानन्दसमुद्भवः' में प्रयुक्त आत्मपद हृदय वाची है[२५]। यहाँ तक तो आस्वाद या स्वाद का स्वरूप भौतिक रहा।

---

२२. यत्र विभावादिमुखेन भावानामवगमस्तत्रैव सहृदयैकसंवेद्यो रसास्वादोदय इति वस्तुस्वभाव एवायम्। व्यक्तिविवेक, त्रिरुवेन्द्रम् पृ० १२

२३. वही पृ० १२

२४. रसगंङ्गाधर (चौ०) पृ० १०९

२५. काव्यार्थेन...**भावकचेतसः** सम्भेदे अन्योन्यसंवलने...स्वादः। दशरूपक ४।४३ पर अवलोक ।

सबसे पहले भट्टनायक ने रस को '**ब्रह्मास्वाद सविध**' कहा जो स्पष्ट रूप से बताता है कि रसका स्वरूप आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द से पृथक् है। क्योंकि एक अन्य स्थल पर उन्होंने ही रसानुभव को योगियों के अनुभव से सर्वथा भिन्न माना है—**तेन नास्य समः स स्याद्योगिभिर्दृह्यते** हि यः। अतः उनका अभिप्राय रसास्वाद की आनन्दात्मकता में है। इसीलिये इसे ब्रह्मास्वाद न कहकर उसका सहोदर कहा है।

अभिनवगुप्त प्रथम प्राचार्य हैं जिन्होंने रसास्वाद को स्वात्म-परामर्श अर्थात् साक्षात् आत्मानुभव माना है। महिमभट्ट प्रभृति कुछ समवर्ती एवं परवर्ती आचार्यों ने अभिनव की इस नयी व्याख्या का विरोध किया और इसे वस्तु-परक भौतिक अनुभव माना। पर परवर्ती आचार्य हेमचन्द्र, विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने अभिनव के पक्ष का ही समर्थन किया। आत्मवादी विचारधारा के प्रबल हो जाने से वस्तु-वादी चिन्तन दब कर खो गया। हिन्दी मैं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसे पुनरुज्जीवित करने का बीड़ा उठाया और पर्याप्त सफल भी हुए।

चर्वणा

चर्वणा पद का प्रयोग सब से पहिले अभिनव गुप्त ने किया है जो स्वाद के पर्याय के रूप में हुआ है। रत्यादि भाव यद्यपि स्थायी रूप से प्रत्येक व्यक्ति के मन में विद्यमान रहते हैं पर उनका अनुभव सदा नहीं होता रहता। अपितु कारणों के समक्ष उपस्थित होने पर व्यक्ति के मानसपटल पर रत्यादि भावों का आविर्भाव हो जाता है। काव्य में विभावादि के साधारणीकरण से ही उद्बुद्ध होकर रत्यादि स्थायिभाव मानसपटल पर आ जाते हैं और अनुभव के विषय होने लगते हैं। **रत्यादि भावों का मानसपटल पर आविर्भूत होकर अनुभव का विषय होना ही चर्वणा है** जिसका प्राण तन्मयी भाव है। यह चवर्णा पहले से नहीं होती रहती। लौकिक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का व्यापार भी चर्वणा में नहीं होता। अपितु अलौकिक विभावादि के संयोग से यह चर्वणा संपन्न होती है। प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण जनित रत्यादि के बोध से तो यह भिन्न प्रकार की अनुभूति है ही, लौकिक प्रमाणों के बिना ही होने वाले योगियों के बोध से भी विलक्षण प्रकार का बोध चर्वणा है। अभिनवगुप्त ने चर्वणोपयोगी विभावादि व्यवहार को अलौकिक माना है[२६]। जिस प्रकार खांड़

---

२६. अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः।
अभिनवभारती, बड़ौदा, पृ० २८४

एवं मिर्च आदि से बने शर्बत का खांड एवं मिर्च से विलक्षण स्वाद हो जाता है उसी प्रकार विभावादि से संवलित रत्यादि का भी स्वाद है जो विभावादि एवं रत्यादि के पृथक्-पृथक् अनुभव से विलक्षण होता है। इस प्रकार रत्यादि से संवलित स्वात्मा का अनुभवात्मक बोध ही चर्वणा है । इसी का दूसरा नाम 'रसना' भी है । निष्पत्ति वस्तुतः रस की नहीं अपितु रस्यमानता अर्थात् रसना रूप चर्वणा की ही होती है। इसीलिये रस प्रमेय भी नहीं होता । रसना रूप यह चर्वणा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का व्यापार नहीं होती । न ही यह प्रमाता का व्यापार बनती है । इसका अभिप्राय यह नहीं कि यह मात्र काल्पनिक है । अपितु इसकी सत्ता स्वसंवेदन अर्थात् आत्मानुभव से ही सिद्ध हो जाती है । इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार रसनात्मक यह चर्वणा बोध रूप ही है। लेकिन लौकिक अन्य सभी प्रकार के बोधों से सर्वथा पृथक् होती है।

मम्मट ने अभिनवगुप्त कृत रससूत्र की व्याख्या में रस को 'चर्व्यमाणतैक-प्राणः' कहा है । माणिक्यचन्द्र ने इसका अर्थ किया है कि रस का स्वभाव सिद्ध अर्थात् पूर्वतः विद्यमान नहीं होता अपितु तात्कालिक ही होता है । रसानुभूति की तात्कालिता ही यहाँ चर्वणा पद से अभिप्रेत है ।[२७] रस की निष्पत्ति चर्वणा की निष्पत्ति के कारण प्रतीत होती है वास्तविक नहीं । चर्वणा की निष्पत्ति तो होती है पर रस की नहीं हो सकती । अतः 'रसनिष्पत्तिः' यह कथन 'गौर्वाहीकः' या 'सिंहो माणवकः' की तरह ही उपचरित है जो अतिशयित व्यापार अर्थात् बढ़ा चढ़ाकर कथन है ।[२८]

माणिक्यचन्द्र ने इसे स्पष्ट किया है कि निष्पत्ति रस की नहीं अपितु उसकी रसना की होती है । यह रसना ही चर्वणा है। यह चर्वणा रसानुभव के पहले से विद्यमान नहीं रहती इसलिये इसे स्मृति रूप भी नहीं कह सकते। किसी अन्य प्रमाण से भी यह बात सिद्ध नहीं होती कि इसकी उत्पत्ति अभी हुई है। क्योंकि लोकोत्तर अनुभव के विषय में प्रत्यक्ष आदि प्रमाण लागू नहीं होते। पर इस कारण यह स्वयं अप्रामाणिक अनुभव है ऐसी भी बात नहीं है। क्योंकि स्वसंवेदन से ही इसकी सत्ता का अनुभव होता है। इस प्रकार चर्वणा

---

२७. चर्व्यमाणतैकेति न सिद्धस्वभावोऽपि तु तात्कालिक एव ।
काव्यप्रकाशसंकेत, आनन्दाश्रम, पृ० ५०

२८. चर्वणानिष्पत्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम् ।
का० प्र० चतुर्थ उल्लास ।

अवबोध रूपा है। यह एक विशेष प्रकार का ज्ञान है जिसका अनुभव हमें रसानुभूति के समय होता रहता है।[२९]

विश्वनाथ ने भी मम्मट के आशय की पुनरुक्ति ही की है जब वह कहते हैं कि निष्पति रस वस्तुतः की नहीं अपितु चर्वणा की होती है पर रस की कही जाती है।[३०]

पण्डितराज जगन्नाथ चिद्गत आवरणभंग को रसानुभूति का प्रयोजक मानते है। चैतन्य पर अज्ञान का आवरण निरन्तर बना रहता है। उस आवरण का भंग होने पर ही आत्मचैतन्य का आनन्दात्मक साक्षात्कार होता हैं। चिद्गत आवरण का भंग ही जगन्नाथ के मत से चर्वणा है। इस प्रकार अज्ञान का ध्वंस ही चर्वणा है अथवा चर्वणा अन्तःकरण की एक वृत्ति है जो रत्यादि से युक्त आत्मानन्द के रूप में परिणत होती है।[३१]

भोग

भारतनाट्यशास्त्र के मूल ग्रन्थ में भोग पद का प्रयोग रस के सन्दर्भ में बिलकुल नहीं हुआ है। शृंगार के भेद संभोग का उल्लेख तो उपलब्ध होता है पर रसानुभूति या आस्वाद के लिये उसका प्रयोग कहीं नहीं हुआ है। रसानिष्पत्ति के लिये भोग पद का प्रयोग सबसे पहिले भट्टनायक ने किया है। जिसको अभिनवगुप्त ने अपनी टीका अभिनवभारती में उद्धृत भी किया हैं—भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः.........भोगेन परं भुज्यते।[३२]

भट्टनायक का मत है कि रस का भोग होता है। इसका अभिप्राय यह है कि विभावादि का साधारणीकरण हो जाने पर रत्यादि स्थायिभावों का जो अनुभवात्मक ज्ञान होता है वही काव्यार्थ का भोग है। विभावादि के साधारणीकरण के अनन्तर तीन बातें होती हैं। सबसे

---

२९. सा च चर्वणा न प्रमाणान्तरतो जाता पूर्वं येनेदानीं स्मृतिः स्यात्। न चाधुना प्रमाणान्तरादुत्पन्ना। लोकोत्तरे प्रत्यक्षाद्यव्यापारात्। स्वयं तु नाप्रामाणिकी। स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। चर्वणाऽवबोधरूपैव। ज्ञानविशेषस्यैव चर्वणारूपत्वात्॥ काव्यप्रकाश संकेत पृ० ५१

३०. निष्पत्या चर्वणस्यास्य निष्पत्तिरुपचारतः॥ सा० द० ३।२०

३१. चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभङ्ग एव प्रागुक्ता, तदाकारान्तःकरणवृत्तिर्वा। रसगङ्गाधर, चौखंभा, पृ० ९०

३२. अभिनवभारती (बड़ौदा) पृ० २७७

पहिले तो विभावादि के साधारणीकरण से प्रमाता सहृदय समाजिक के मन में रजस् एवं तमस् को दबा कर सत्त्व गुण का प्राबल्य होने लगता है। सत्त्व रजस् एवं तमस् के इस विशेष अनुपात में व्यवस्थापित होने का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति को प्रकाश एवं आनन्दमय संवित् होने लगती है। संवित् ज्ञान के बोध को कहते हैं। यह बोध कभी सुखात्मक तो कभी दुःखात्मक हुआ करता है तथा इसका माध्यम इन्द्रियाँ होती हैं। क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा होने वाला ज्ञान रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द विषयक ही हो सकता है। इन पांचों से अतिरिक्त नहीं। ये रूपादि ही विषय कहे जाते हैं। अतः इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला ज्ञान वैषयिक ही होता है। तथा वह सुखात्मक या दुःखात्मक में से किसी एक प्रकार का ही संभव है। विभावादि के साधारणीकरण से होने वाला रत्यादि का अनुभवात्मक बोध वाह्येन्द्रियों के द्वारा सम्पन्न नहीं होता। अपितु अन्तरिन्द्रिय मन के द्वारा सम्पादित किया जाता है। अतएव यह सुखात्मक या दुःखात्मक न होकर आनन्दात्मक होता है। चित्त में सत्त्व गुण की बहुलता से प्रकाश का अनुभव होना स्वभाविक ही है क्योंकि सत्त्व लघु एवं प्रकाशक गुण माना गया है—सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टम्।[33] इस प्रकार इस बोध को प्रकाशानन्दमय संवित् ठीक ही कहा गया है। जिसका शाब्दिक अर्थ है प्रकाशमय एवं आनन्दमय अर्थात् प्रकाशात्मक एवं आनन्दात्मक बोध।

इस बोध की परिणति चित्त की विश्रान्ति में होती है। यह विश्रान्ति एक प्रकार की तृप्ति की अवस्था है जिसे ही भोग कहते हैं।

भवभूति ने उत्तर रामचरित में उसका बड़ा ही हृदय निरूपण किया है—

विनिश्चेतुं शक्यो सुखमिति न वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः कि मु मदः।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति समुन्मीलयति च॥[34]

रामसीता का स्पर्श पाकर विगलित वेदान्तर हो उठते हैं। वह विलक्षण स्पर्श उनके चित्त में एक विशेष प्रकार का विकार उत्पन्न करता है जिसे वे बता नहीं पा रहे हैं। क्योंकि उनकी इन्द्रियां परिमूढ हो गई हैं। अर्थात् अपना-अपना व्यापार करने में असमर्थ हो गई हैं। इसलिए इस अनुभूति के विषय में निश्चितरूप से यह कहना कठिन है

३३. सांख्यकारिका १३
३४. उत्तररामचरित १।३५

कि यह सुखात्मक है या दु:खात्मक, यह मूर्छा की अवस्था है या निद्रा की, किसी विष का प्रभाव है अथवा मद्यपान का नशा हो आया है।

इन सब अवस्थाओं में होने वाली अनुभूतियों के सुखात्मक या दु:खात्मक होने का निश्चय करना सरल नहीं होता अपितु इसका असर चैतन्य तक होता है। इसलिए भट्टनायक ने इसे ब्रह्मास्वाद सविध कहा है। अर्थात् ब्रह्म के बोध के समान ही इसका भी बोध होता है। यह अनुभव एवं स्मृति दोनों से ही विलक्षण अर्थात् भिन्न प्रकार का होता है। इसे ही आनन्दानुगत नामक संप्रज्ञात समाधि की अवस्था बताया गया है। रूप, रस, गन्ध आदि विषयों के अनुभवात्मक बोध के समान ही इसे भोग की संज्ञा दी गई है जो समुचित भी है।

भोग सांख्य दर्शन का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है। इसकी परिभाषा करते हुए सांख्य सूत्रकार ने कहा है कि भोग वह सिद्धि है जो चैतन्य रूपी पुरुष में चरितार्थ होती है।[३५] ज्ञान और भोग में यही अन्तर है कि ज्ञान की परिणति आत्मा में नहीं होती पर भोग की होती है। अतः चैतन्य में जिसका स्वतः पर्यवसान हो जाय वही भोग है। भोग का शाब्दिक अर्थ अभ्यवहरण अर्थात् आत्मसात् करना है जो शरीर एवं चैतन्य दोनों के द्वारा समान रूप से सम्पन्न होता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि पुरुष तो अपरिणामी है अतः वह किसी वस्तु या भाव को आत्मसात् कैसे कर सकता है? इसका उत्तर विज्ञानभिक्षु ने उपर्युक्त सांख्य सूत्र "चिदवसानो भोग:" के प्रवचनभाष्य में यह दिया है कि पुरुष का सत्त्वशील चित्त (निर्मल अन्त:करण) में प्रतिफलित हो जाना ही उसके द्वारा उसी चित्त में आविर्भूत रत्यादि भावों का भोग कहलाता है। भोग की इसी प्रक्रिया का निरूपण करते हुए विष्णुपुराण में कहा है कि उस विश्वात्मा को नमस्कार है जो इन्द्रियों के द्वारा चित्त में गृहीत रूपादि विषयों को अन्त:करण में प्रतिबिम्बित तद्रूप आत्मा को प्रदान कर देता है—

गृहीतानिन्द्रियैरर्थानात्मने यः प्रयच्छति।
अन्त:करणरूपाय तस्मै विश्वात्मने नमः॥

काव्य प्रकाश के सम्भवतः आद्य टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने कहा है कि रस

---

३५. चिदवसानो भोग:। सांख्य सूत्र १।१०४।

का साक्षात् आस्वाद ही भोग है। नाट्य या काव्य के द्वारा सहृदय सामाजिक को जो आस्वाद दिया जाता है वही भोग है।[३६] भोग के पूर्व इन्होंने अभिधा और भावना नामक दो व्यापारों के अनिवार्य रूप से होने का विधान किया है। विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभावों का **साधारणीकरण** ही भावनात्मक व्यापार है। इसके अभाव में शास्त्र और काव्य में कोई अन्तर नहीं किया जा सकता।[३७] यहाँ "**भाविते च रसे तस्य भोगः स्यात्**" की उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता हैं कि रस से उसका भोग पृथक् है। उद्योतकार नागेश भोग को भी एक प्रकार का व्यापार ही मानते हैं जिसकी संज्ञा भोजकत्व है। सारबोधिनीकार ने भोग को रस का ही साक्षात्कार कहा है जिसके द्वारा रस आस्वाद का विषय होता है।[३८]

इस प्रकार परवर्ती आचार्य रसनिष्पत्ति के प्रसंग में तीन व्यापारों की सत्ता में विश्वास करते हैं अभिधा, भावना तथा भोग। साधारणीकरण को ही भावना अथवा भावकत्व तथा भोग को भोजकत्व व्यापार कहा गया है। पर साहित्यदर्पणकार ने विभावनादि व्यापार की अलौकिकता तथा रस के ब्रह्मास्वाद सहोदर होने का विधान करते हुए भी भोग या भोजकत्व व्यापार की चर्चा नहीं की है। जिससे प्रतीत होता है कि वे भोग या भोजकत्व व्यापार की मान्यता को महत्त्व नहीं देना चाहते। वे तो भट्टतौत की परम्परा में आस्वाद को ही रस मानते हैं। अतः रस को भोजकत्व व्यापार का विषय कहना इन्हें समुचित नहीं प्रतीत होता। पर पंडितराज जगन्नाथ ने भट्टनायक की उक्ति—**अभिधा भावना चैव तद्भोगीकृतिरेव च**" के आधार पर भोगकृत्व नामक तृतीय व्यापार की सत्ता को स्वीकार करते हुए कहा है कि साधारणीकृत रत्यादि भाव ही रजस् एवं तमस् को दबाकर सत्त्व गुण के उद्रक से अपने

---

३६. यः स्वयं भुज्यते रस्यते परस्मै दीयते च स भोगः।
संकेत, काव्यप्रकाश टीका, आनन्दाश्रम, पृष्ठ ४७

३७. यदि ह्यभिधाव्यापारान्तरभावी भावकत्वव्यापारो नाङ्गीक्रियते तदा शास्त्रेभ्यः काव्यनाट्ययोः किमन्तरं स्यात् ?
वही पृ० ४७

३८. अन्त्येन भोजकत्वव्यापारेण तु उक्तरीत्या साधारणीकृतविभावादि-सहकृतेन सा रतिः सहृदयैरास्वाद्यते।
काव्यप्रकाशटीका पृ० ६१

चैतन्य स्वभाव में ही अपनी निर्वृति एवं विश्रांति स्वरूप साक्षात्कार का विषयी होता हुआ रस पदवी को प्राप्त करता है—तृतीयस्य भोगकृत्वव्यापारस्य महिम्ना निगीर्णयो: रजस्तमसोरुद्रिक्तसत्त्वजनितेन निजचित्स्वभावनिर्वृतिलक्षणेन साक्षात्कारेण विषयीकृतो भावनोपनीत: साधारण्यात्मा रत्यादि: रस: ।[३९]

---

३९. रसगङ्गाधर, चौखम्भा, पृ० ९८

५

रसमनोविज्ञान

काव्य रस क्या है ? यह प्रश्न आज भी सहृदयों एवं मनीषियों की विवेचना का विषय बना हुआ है। स्वतंत्र रूप से रस को ही विषय बना कर अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं तथा आज भी लिखे जा रहे हैं। रस की अनेक प्रकार की व्याख्याएं प्रस्तुत की गई हैं और प्रस्तुत की जा रही हैं। पर जितना ही अधिक इस विषय पर विचार किया जाता है उतना ही यह रहस्यमय होता जा रहा है। अतएव कुतूहल का विषय भी। कुतूहल का विषय इस लिये कि आज विज्ञान के इस युग में साहित्य से व्यतिरिक्त क्षेत्र के व्यक्तियों के लिये रस जिज्ञासा का भी विषय न होकर मात्र कुतूहल का विषय रह गया है। पर इस सबके होते हुए भी काव्य पढ़ने एवं नाटक देखने से रस की अनुभूति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। रसानुभूति लोगों को होती ही है। अतः वह अनुभूति क्या है, कैसे निष्पन्न होती है, इत्यादि प्रश्नों का उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक है।

यहाँ रस के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसकी निष्पत्ति की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के निरूपण का प्रयास किया गया है। रस क्या है, यह जिज्ञासा उतनी ही पुरानी है जितना स्वयं काव्यशास्त्र का इतिहास। भरत नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में यह प्रश्न इसी रूप में उठाया गया है, **अत्राह, रस इति कः**, यहाँ पूछा जा सकता है कि रस क्या है ? इसका उत्तर भी दिया है, **पदार्थ (इति) उच्यते**। उसे पदार्थ कहा जाता है। पदार्थ का अभिप्राय वस्तु-विशेष से न होकर यहाँ काव्यार्थ से ही है। यह बात अभिनवगुप्त ने अपनी टीका में स्पष्ट की है कि चूंकि रस काव्यार्थ की भावना कराते हैं अतः वह काव्यार्थ ही रस है। वही पदार्थ है। **तथा ह्याह काव्यार्थान् भावयन्ति इति तत्काव्यार्थो रसः**।[2] पदार्थ अर्थात् काव्यार्थ ही रस है। इसमें प्रमाण क्या है ? नाट्यशास्त्र का उत्तर है **आस्वाद्यत्वात्**। क्योंकि काव्य से

---

१. नाट्यशास्त्र, (बड़ौदा) भा० १ अ० ६, पृ० २८८

२. वही, अभिनव-भारती, (बड़ौदा) पृ० २७८

काव्यार्थ का ही ग्रस्वाद होता है, काव्य के द्वारा ग्रस्वाद्य कव्यार्थ ही है ग्रतः वही रस है।[३] भावों को भी भाव इसीलिये कहा गया है कि वे मानसिक, वाचिक एवं ग्रांगिक ग्रभिनयों के द्वारा काव्यार्थ की ही भावना कराते हैं।[४]

रस ग्रास्वाद है या ग्रास्वाद्य इस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है जिसका निष्कर्ष यही है कि रस मात्र ग्रास्वाद है। क्योंकि रस को ग्रास्वाद्य कहना उसे विषयनिष्ठ (ग्राब्जेक्टिव) ग्रनुभव बताना है। किंतु वह तो एक मात्र व्यक्तिनिष्ठ (सब्जेक्टिव) ग्रनुभव है इसमें किसी भी प्रकार का विसंवाद नहीं होना चाहिए। रस वस्तुतः किसी बाह्य विषय के गुणों का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं है जिसे विषयनिष्ठ कहा जा सके। क्योंकि यदि यह विषयनिष्ठ होता तो ग्रापामरतिर्यक् सभी को इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से ही इसका ग्रनुभव होता। पर ऐसा होता नहीं। केवल कुछ सहृदयों को ही जो इसका ग्रास्वाद हो पाता है इससे इतना तो दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि यह इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्य ज्ञान की तरह विषयगत नहीं होता। एक दूसरी बात इस प्रसंग में ग्रौर कहने की है कि विषयगत ग्रनुभव देश, काल एवं पात्र भेद से सामान्यतः विभिन्न प्रकार का तथा विशेषतः सुख दुःख मोहात्मक तीन प्रकार का होता है। जबकि रसात्मक ग्रनुभव केवल ग्रानन्दात्मक ग्रौर किसी-किसी भाग्यवान् को ही होता है। भाग्यवान् इसलिये कि जिस वासना से रसास्वाद होता है वह जन्मजात एवं ग्रर्जित उभय प्रकार की होती है। दोनों के योग से ही व्यक्ति का हृदय काव्य के ग्रानन्द का उपभोग कर पाता है। किसी भी एक के ग्रभाव में व्यक्ति को उसका ग्रास्वाद नहीं हो पाता। ग्रागे इस बात की भी सिद्धि की जायगी कि सहृदय व्यक्ति के हृदय में वासनात्मक रूप में स्थित उसके ग्रपने मनोभावों का ग्रनुभवात्मक बोध रस है।

इस पर यह कहा जा सकता है कि फिर नाट्यशास्त्र में रस को ग्रास्वाद्य क्यों कहा गया है।[५] यही नहीं **'कथमास्वाद्यते रसः'** में कर्म वाच्य के प्रयोग से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि 'ग्रा' पूर्वक 'स्वद्' धातु का कर्म 'रस' ग्रास्वाद का विषय है। ठीक है पर जब नाट्यशास्त्र के ही दूसरे प्रबल प्रमाणों

---

३. ग्रास्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते।
ग्रभिनव भारती, (बड़ौदा प्र० भा०) पृ० २७७

४. वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः। ना० शा० ग्र० ७

५. रस इति कः पदार्थ उच्यते, ग्रास्वाद्यत्वात्। वही, ग्र० ६

से इस बात की सिद्धि हो जाती है कि सहृदय सामाजिक के मन में स्थायी रूप से विद्यमान रत्यादि भावों की वासना का मानसिक अनुभव ही रस है तो उक्त **आस्वाद्यत्वात्** तथा **आस्वाद्यते** की उक्तियों को, कहने का कोई दूसरा प्रकार न पाकर औपचारिक प्रयोग ही मानना होगा। साहित्यदर्पणकार ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि '**रसः आस्वाद्यते**' का प्रयोग '**ओदनः पचति**' की तरह ही मात्र औपचारिक है। जिस प्रकार पके हुए चावल को ही भात कहते हैं फिर 'भात पक रहा है' ऐसा प्रयोग उपचारतः होता ही है उसी प्रकार आस्वादन के अतिरिक्त रस और कोई वस्तु नहीं, फिर भी उसका आस्वाद होता है, ऐसे जो प्रयोग हैं वे औपचारिक ही हैं वास्तविक या यथार्थ नहीं। इसलिए रसात्मक अनुभव आस्वाद है आस्वाद्य नहीं। अतः रस व्यक्तिनिष्ठ (सब्जेकिटव) अनुभव ही है विषयनिष्ठ (आब्जेक्टिव) नहीं।

भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र भी, जो साहित्यिक रस की शास्त्रीय विवेचना करने वाला प्रथम ग्रन्थ है, रसानुभव का माध्यम साक्षात् मन को ही मानता है, इन्द्रिय आदि को नहीं। उसका कहना है कि रति आदि आठ भाव हमारे चित्त में स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं। वे प्रायः सुप्त रहते हैं। उनका मानसपटल पर उभर आना उद्रेक कहलाता है। तभी ये अनुभव के विषय भी होते हैं। इनका उद्रेक दो प्रकार से संभव है। एक तो हमारे दैनंदिन के व्यवहार में इनके उत्तेजक विषयों के उपस्थित होने पर, दूसरे काव्य के वर्णनों या नाटक के अभिनयों से। काव्य या नाट्य से जब इनका उद्रेक होता है तो ये साक्षात् मन के द्वारा ही हमारे अनुभव के विषय होते हैं। अर्थात् इनका मानसप्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार सहृदय सामाजिक का, अभिनय आदि के द्वारा उद्भिन्न अपने ही रत्यादि स्थायिभावों का मन के द्वारा आस्वादनात्मक अनुभव ही रस है। कहा भी है—

भावाभिनयसंबद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥[६]

इसका निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति के अपने ही मनोभावों का अनुभव रस है। काव्यवर्णनों एवं नाट्य के दृश्यों से उन भावों का उद्रेक मात्र होता है और वे अनुभव के विषय होने लगते है। इसी अनुभव को उपर्युक्त कारिका में 'मन से होने वाला आस्वाद' कहा गया है। अतएव रस को विषयनिष्ठ नहीं अपितु विषयिनिष्ठ अर्थात् व्यक्तिनिष्ठ अनुभव ही कहा जाता है। क्योंकि

---

६. ना० शा० ६।३३

वह किसी आस्वाद्य विषय का धर्म न होकर अस्वादनकर्ता सामाजिक रूप विषयी का ही धर्म है जो उसका मनोभाव कहलाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि नाट्य के जिन दृश्यों तथा काव्य के जिन वर्णनों से हमारे सुप्त मनोभावों का उद्रेक होता है उनका अनुभव रस नहीं है कि उसे उनका धर्म (गुण) माना जाय। इसके विपरीत व्यक्ति के चित्त की विशेष वासना ही जो उसका एक (गुण) धर्म है, रस के रूप में अनुभूत होती है। व्यक्ति के अपने ही किसी धर्म का अनुभव निश्चित रूप से व्यक्तिनिष्ठ ही कहा जा सकता है, विषय या वस्तुनिष्ठ नहीं। इसीलिए रस को रसिक अर्थात् सहृदय तक ही सीमित[७] तथा आत्मानन्द समुद्भव अर्थात् आनन्दरूपी आत्मा से उत्पन्न होने वाला आस्वाद कहा है।[८]

धनंजय ने तो इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया है। उनका कहना है कि छोटे बच्चे मिट्टी के बने हुए हाथी घोड़े आदि खिलौनों से जब खेलते होते हैं तो यह जानते हुए भी कि ये असली हाथी-घोड़े नहीं हैं ,वे यह भूल जाते हैं और उनसे असली हाथी-घोड़ों के व्यवहार का सा आनन्द उन्हें मिलता है। इसका रहस्य यही है कि उस समय उन्हें अपने ही उत्साह का अनुभव होने लगता है। ठीक यही स्थिति सामाजिक की होती हैं जिसके अपने ही उत्साह आदि भाव काव्य में वर्णित या नाट्य में अभिनीत अर्जुन प्रभृति पात्रों के द्वारा उद्भावित होकर स्वयं के ही अनुभव के विषय हो जाते हैं—

क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद् बालानां द्विरदादिभिः।
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतॄणामर्जुनादिभिः ॥[९]

उत्साह आदि भावों के अनुभव को ही यहाँ 'स्वदते' क्रिया पद से अभिहित किया है जिसका अभिप्राय यह है कि वह अनुभव आस्वादनात्मक होता है। संभवतः भट्टनायक की ही उक्ति '**काव्येन रसा भाव्यन्ते**' का विश्लेषण करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है—**यत् काव्येन रसा भाव्यन्ते इत्युच्यते तत्र विभावादिजनितचर्वणात्मकास्वादरूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावनं तदभ्युपगम्यत एव**। काव्य से रस का भावन होता है, इसका अभिप्राय यदि विभावादि से उत्पन्न चर्वणात्मक आस्वादरूप बोध

---

७. रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात्। दशरूपक ४।४८
८. स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः। वही ४।४३
९. दशरूपक ४।१४

का विषय होना ही है तो वह हमें भो स्वीकार्य है । वहां पर—

आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते ।

(काव्यार्थ के आस्वादनात्मक अनुभव को ही रस कहते हैं) पर टीका करते हुए वह स्पष्टतया लिखते हैं कि—**अनुभवेन च तद्विषय इति मन्तव्यम् ।**[10]

काव्यर्थ ही व्यंजना व्यापार का विषय होने से व्यंग्य तथा आस्वादनात्मक अनुभव होने से रस कहा जाता है । इस प्रकार रसास्वाद, बौद्धिक प्रक्रिया से होने वाले ज्ञान तथा मानसिक प्रक्रिया से संपद्यमान अनुभव दोनों का समवाय है । इसलिये काव्य के अधिकारी को विमलप्रतिभाशाली होने के साथ-साथ विशद-हृदय भी होना आवश्यक है । तभी **'ग्रीवा भंङ्गाभिरामम्'** तथा **'हरस्तु किंचित्परिवृत्तधैर्यः'** आदि काव्यात्मक वाक्यों को सुनकर उससे वाक्यार्थ के बोध के अनन्तर ही एक ऐसा मानसिक बोध उत्पन्न होता है मानो वह काव्यविषय का साक्षात् साक्षात्कार कर रहा हो । इस बोध को ही स्वहृदयसंवाद अर्थात् अपनी बुद्धि में आए विषय का अनुभव तथा काव्यार्थ संभेद से आत्मानन्द समुद्भूत आस्वाद कहा गया है । जिसका भागी होना ही व्यक्ति की सहृदयता है ।[11]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रसानुभूति मानस-प्रत्यक्ष का विषय है । दूसरे शब्दों में हम इसे अपने ही मनोविकार की दशा का स्वमं का अनुभव कह सकते हैं । कोई भी वाह्यविषय इन्द्रियों के संनिकर्ष में आने पर मन को प्रभावित किए बिना नहीं रहता । उसके ही परिणाम स्वरूप तत्तद् मनोविकारों की अनुभूति हमें होती है । ऐसा क्यों होता है, इसका समुचित उत्तर योगशास्त्र में उपलब्ध होता है । योगदर्शन में मनोविकारों को चित्तवृत्ति के नाम से निरूपित किया गया है । क्योंकि चित्त की वृत्तियों के निरोध को ही योग कहते हैं । अतः योग शास्त्र चित्त की इन विविध वृत्तियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत करता है । यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रसनिष्पत्ति एवं योग उभयत्र चित्त का अभिप्राय अन्तःकरकात्मिका बुद्धि से है, चिति शक्ति अथवा हृदय से नहीं । क्योंकि योग एवं काव्य उभयत्र जो अनुभूति होती है वह निश्चयात्मक ही होती है जिसे अध्यवसाय कहते हैं । ज्ञान उसी का धर्म है, वही ज्ञानात्मक प्रक्रिया होती है

---

१०. अभिनव भारती, पृ० २७७

११. येषां काव्यानुशीलनवाशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभाव-योग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः ।। ध्वन्यालोकलोचन १।१

तथा उसमें ही परिणाम या विकार भी संभव होते है, चितिशक्ति में नहीं। वाचस्पति मिश्र ने योगभाष्य की अपनी टीका में इसे स्पष्ट कर दिया है— **चित्तशब्देन अन्तःकरणं बुद्धिमुपलक्षयति। नहि कूटस्थनित्या चितिशक्तिरपरिणामिनी ज्ञानधर्मा भवितुमर्हति, बुद्धिस्तु भवेदिति भावः।**[12] अभिनव गुप्त ने रस की चर्वणा को भी एक प्रकार का प्रत्यय कहा है।[13] जिस चित्त में रसानुभूति होती है वह जड़ नहीं है। उसमें स्व-पर-संवेदन की क्षमता है। अतः रसानुभूति या रसचर्वणा भी ज्ञानरूपा ही होती हैं। अतएव उसे आनन्दमयसंवित् भी कहा गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि उस ज्ञान का ग्रहण हमें आनन्द के रूप में ही होता है। स्व पर के रूप में नहीं। इस प्रकार योग एवं रसानुभूति के आश्रयभूत चित्त की वृत्तियों के तुलनात्मक अध्ययन से रसानुभूति की असंलक्ष्य-प्रक्रिया पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है।

इस प्रसंग में यहाँ एक बात और कह देना उचित है कि उद्देश्य या फल-प्राप्ति की दृष्टि से भी योग और काव्य तुल्यकोटि के ही ठहरते हैं। क्योंकि उभयत्र दुःख का अपनोदन (निवारण) ही व्यक्ति की प्रवृत्ति का प्रधान प्रयोजन होता है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि योग जहां अनागत अर्थात् आने वाले दुःख के शमन के लिये प्रवृत्त होता है, वहाँ काव्य की पहुँच वर्तमान तक ही सीमित होती है। योगशास्त्र की प्रवृत्ति का लक्ष्य है **'हेयं दुःखमनागतम्'**।[14] क्योंकि अतीत का दुःख तो भोग लिया गया, वर्तमान का दुःख भी भोगारूढ़ है। अतः ये दोनों ही योग का विषय न होने से उपेक्ष्य हैं। आगामी दुःख ही योगियों की दृष्टि में खटकता रहता है। अतः उसी का विनाश योग का उद्देश्य है।[15] इसके विपरीत काव्य का प्रयोजन सद्यः पर निर्वृति या सहृदय सामाजिक को समनन्तर ही विगलित वेद्यान्तर करते हुए आनन्द से

---

१२. योगसूत्र १।१ के भाष्य पर वाचस्पति मिश्र कृत तत्त्ववैशारदी।

१३. रसना च बोधरूपैव। किन्तु बोधान्तरेभ्यो विलक्षणैव। उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगाद्रसना यतो निष्पद्यते ततस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य। ना० शा० अभिनवभारती पृ० २८५

१४. योगसूत्र २।१६

१५. दुःखमतीनमुपसंभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्तते, वर्तमान च स्वक्षण भोगारूढमिति। योगभाष्य, सू० २।१६

आप्लावित करना है।[१६] यह वर्तमान के दुःख का ही अपनोदन करता है। इस प्रकार योग का दुःखापनोदन जहाँ स्थायी होता है वहाँ काव्यजन्य दुःख की निवृत्ति क्षणिक होती है। नाना प्रकार के सांसारिक दुःखों से प्रपीड़ित व्यक्ति यहाँ आकर थोड़ी देर के लिए विश्रान्ति का सुख पा लेता है और नूतन सा होकर अपने कार्य में पुनः लग जाता है। नाट्यशास्त्र में कहा भी है—

> दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
> विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ॥[१७]

यहाँ 'काले' पद का प्रयोग इस तथ्य को प्रकाशित करने के लिये हुआ है कि काव्यजन्य दुःख-विश्रान्ति उसी समय तक रहती है जिस समय तक उसका पाठ या अभिनय होता रहता है। अथवा जब तक उसका प्रभाव बना रहता है। अनन्तर व्यक्ति अपनी उसी अहर्निश की स्वाभाविक सुख-दुःखमोहात्मक दशा में पहुंच जाता है।

चित्तवृत्तियाँ

योगदर्शन में चित्त की जिन पांच भूमियों का निरूपण किया है उनके नाम हैं—क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र तथा निरुद्ध। इनमें से आरम्भ की तीन हमारे दैनंदिन के जीवन में यथावसर काम करती रहती हैं। व्यक्ति जब जाग्रत अवस्था में रहता है तो साधारणतः उसका चित्त क्षिप्त रहता है। स्वप्न या प्रमादावस्था में वही चित्त, विक्षप्त हो जाता है। सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा में उसकी मूढ़ दशा होती है। पंचम भूमि निरुद्ध तुर्यावस्था के चित्त की दशा है जो असंप्रज्ञात समाधि में प्राप्त होती है। चतुर्थ भेद चित्त की एकाग्रावस्था को संप्रज्ञात समाधि की अवस्था की वृत्ति कहा गया है। यह दशा जाग्रत की ही एक विशिष्ट अवस्था है। व्यक्ति का किसी व्यापार विशेष में तल्लीन होना या साधक रूप में चित्त को किसी बिंदु पर एकाग्र करना ही चित्त की संप्रज्ञातावस्था है। **सम्यक् प्रकर्षेण ज्ञायते यस्मिन्नसौ संप्रज्ञातः तद्भिन्न असंप्रज्ञातः।** संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात, समाधि के यही दो भेद माने गये हैं। योगसूत्र के व्यास-भाष्य पर टीका करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि संप्रज्ञात

---

१६. सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव......आनन्दम्।
मम्मट, काव्यप्रकाश वृत्ति १।२

१७. नाट्यशास्त्र १।११४

में चित्त की रजस् एवं तमस् वृत्तियाँ उसकी सत्त्ववृत्ति से अभिभूत होकर निरुद्ध हो जाती हैं और मात्र-सत्त्व-वृत्ति रह जाती हैं। असंप्रज्ञात में तो चित्त की सत्त्व-वृत्ति का भी रजस् व तमस् के साथ निरोध हो जाता है। इस प्रकार चित्त की विशेष वृत्तियों के निरोध में असंप्रज्ञात एवं मात्र सत्त्ववृत्ति की सत्ता में संप्रज्ञात समाधि होती है।[१८]

संप्रज्ञात के स्वरूप का निर्वचन करते हुए कहा है कि वह वितर्क, विचार, आनन्द एवं अस्मिता का अनुगत होता है।[१९] जिसका आशय यह है कि जब चित्त किसी स्थूल वस्तु पर एकाग्र होता है तो उसे वितर्कानुगत, जब वह विषय विशेष पर एकाग्र होता है तो विचारानुगत, जब किसी प्रकार के अह्लाद पर एकाग्र होता है तो उसे आनन्दानुगत तथा जब कभी बुद्धि में आत्मा के साथ एकात्मता की संविद् होती है तो उसे अस्मितानुगत कहते हैं। ये चारों संप्रज्ञात के ही प्रकार हैं। काव्यजन्य रसानुभूति भी चित्त की इस एकाग्रभूमि में समुद्भूत संप्रज्ञात की ही एक दशा है। क्योंकि इसमें चित्त की एकाग्रता का विषय आह्लाद-विशेष होता है अतः यह आनन्दनुगत संप्रज्ञात की कोटि में आती है। लक्ष्यबेध की एकाग्रता वितर्कानुगत का विषय है तो गणित प्रभृति शास्त्रों में व्यक्ति की तल्लीनता विचारानुगत होती है। आनन्दानुगत संप्रज्ञात काव्यजन्य रस की आह्लादात्मक अनुभूति में होने वाली चित्त की एकाग्रता को अपना विषय बनाती है तो अस्मितानुगत इससे और सूक्ष्म ज्ञान की पराकाष्ठा एवं वैराग्य की **'अहं ब्रह्मास्मि'** की अनुभूति में आत्मा के साथ बुद्धि (ज्ञान) की एकात्मता के बोध में चरितार्थ होती है। वितर्क, विचार, आनन्द एवं अस्मिता का बोध होते रहने के कारण ही इसका नाम संप्रज्ञात है।

आनन्दानुगत संप्रज्ञात-समाधि को चित्त की रस-दशा कहने में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये। 'योगभाष्य में संप्रज्ञात की दशा का जो निरूपण हुआ है उसका काव्यरस की चर्वणा अवस्था के निरूपण से पर्याप्त साम्य है। वहाँ कहा है कि संप्रज्ञात वह है जो एकाग्र चित्त में सदभूत अर्थ

---

१८. रजस्तमोमयी किल प्रमाणवृत्तिः सात्त्विकीं वृत्तिमुपादाय सम्प्रज्ञाते निरुद्धा, असंप्रज्ञाते तु सर्वासामेव निरोध इति।
वा० मि०, यो०सू० १।१ पर व्यासभाष्य की टीका।

१९. वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगतात्संप्रज्ञातः। योगसूत्र १।१७

को प्रकाशित, क्लेशों को क्षीण, कर्मबंधनों को शिथिल तथा चित्त को निरुद्ध दशा की ओर अभिमुख करता है।[२०]

वाचस्पति मिश्र सद्भूत अर्थ के प्रद्योतन पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि भूत पद से किसी वस्तु पर समारोपित अर्थ की निवृत्ति हो जाती है। अन्यथा निद्रावृत्ति भी अपने आधारभूत चित्त के तमोभाव में एकाग्र होती ही है। अतः यहाँ सत् पद का उपपादन किया है जिसका अर्थ शोभन है। इसमें सत्त्व गुण का ही नितांत आविर्भाव हुआ रहता है। तम का समुद्रेक तो सर्वथा अशोभन है क्योंकि वही क्लेश का कारण है। सत् अर्थात् सत्त्वभाव का द्योतन या तो तत्त्वज्ञान से होता है या अनुमान से। उभयतः ही वह अविद्या का उच्छेद साक्षात् न कर परोक्ष रूप से ही करता है।[२१]

इससे स्पष्ट है कि चित्त में सत्त्व की बहुलता ही उसकी संप्रज्ञात दशा है। नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध टीकाकार भट्टनायक ने चर्वणा अर्थात् भोजकत्व व्यापार की प्रक्रिया के निरूपण में इसी दशा की ओर संकेत किया है—**सत्वोद्रेक-प्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते।** जिसका अभिप्राय यह है कि विभावादि के साधारणीकरण के अनन्तर सहृदय सामाजिक के अन्तःकरण में रजस् एवं तमस् को दबाकर सत्त्वगुण का उद्रेक होने लगता है। उस समय बुद्धि में एक प्रकार का प्रकाश हो जाता है जिसका अनुभव आनन्दात्मक होता है। उसे ही आनन्दमयसंवित् कहते है। एक मात्र उसी में चित्त की विश्रान्ति होती है। अर्थात् रत्यादि भावों में से किसी एक के अतिरिक्त अन्य किसी भी ज्ञेय के अस्तित्व का बोध उस समय नहीं होता। रसास्वाद की इस चर्वणात्मक दशा का अध्ययन तीन विभागों में किया जा सकता है—

१. सत्वोद्रेक,
२. प्रकाशानन्दमयसंवित्,

---

२०. यस्तु एकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्म-बन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति, स संप्रज्ञातो योग इत्याख्या-यते। योगसूत्र १।१ पर भाष्य।

२१. भूतमिति समारोपितमर्थं निवर्तयति। निद्रावृत्तिरपि स्वावलम्बे तमसि भूते एकाग्रा इत्यत उक्तम्, सदिति शोभनं नितान्providedाविर्भूतसत्त्व, तमः-स्समुद्रेकस्तु अशोभनस्तस्य क्लेशहेतुत्वादिति।
वाचस्पति मिश्र, तत्त्ववैशारदी।

३. विश्रांतिसतत्त्व।

पहले जिस संप्रज्ञातसमाधि की चर्चा की गई है उसमें भी चित्त की एकाग्रता तीन रूपों में ही क्रियान्वित होती है—

१. सद्भूत अर्थ का प्रद्योतन, जो रजस् एवं तमस् को दबाकर सत्त्व का उद्रेक ही है। यह पहले कहा जा चुका है।

२. क्लेशों का क्षय, यही प्रकाशानन्दमय संवित् है।

३. चित्त का निरोधोन्मुख होना, जिसे हम भट्टनायक के शब्दों में चित्त का विश्रांतिसतत्त्व कहेंगे।

संप्रज्ञात में कर्म बन्धनों के शिथिल होने की जो बात कही गई है, वह अभिनव गुप्त के शब्दों में विभावादि का साधारणीकरण ही है, जो **'ममैव न मम, शत्रोरेव न तस्य तथा तटस्थस्यैव न तटस्थस्य'** इन छह प्रकार के संबंध विशेष के स्वीकार एवं परिहार के नियम का अनध्यवसाय अर्थात् अनिश्चय के रूप में होता है।[२२] कर्मों के बंधन के शिथिल होने का अभिप्राय यद्यपि पूर्व अर्जित कर्म-संस्कार की शिथिलता ही है जिससे उसके फलों में शिथिलता आ जाती है तथापि दूसरों के या अपने हिताहित की दृष्टि से किए गए कर्मों से जो परस्पर के शत्रुमित्र भाव रूपी संबन्ध बन जाते हैं वह भी बंधन ही होते हैं। रस की अनुभूति दशा में इन बन्धनों का शिथिल हो जाना ही स्वाभाविक है। उस समय इन संबन्धों के कारण मन में कोई तनाव नहीं होता। यद्यपि ये भाव सर्वथा समाप्त नहीं हो जाते तथापि थोड़ी देर के लिये ढीले अवश्य पड़ जाते हैं। अनन्तर व्यक्ति के चित्त को पुनः जकड़ लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यजन्य रसानुभूति का आधार चित्त की आनन्दानुगत संप्रज्ञात समाधि की दशा ही है जी उसकी एकाग्र-भूमि में संपन्न होती है। संप्रज्ञात के भेदों में भी एकाग्रता के आधार का तारतम्य है। जहाँ वितर्कानुगत में किसी स्थूल वस्तु को आधार बनाकर चित्त की एकाग्रता होती है तथा विचारानुगत में किसी विचार अर्थात् किसी विषय को आधार के रूप में लिया गया हैजो पूर्वापेक्षा सूक्ष्मतर है वहाँ आनन्दानुगत में वस्तु या विषय से भी सूक्ष्मतर उनके संस्कार, भाव या रागात्मक अनु-

---

२२. ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतितैरभिव्यक्तः। काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास।

भूतियों को आधार के रूप में अपनाते हैं । यही कारण है कि आचार्य अभिनव गुप्त ने रसास्वाद की उस दशा को **'चिद्विशिष्ट रत्यादि'** की अनुभूति कहा है। पंडितराज जगन्नाथ तो उसे **'रत्याद्यवच्छिन्न चित्'** कहते हुए भी हिचकते नहीं। रत्यादि न तो वस्तु रूप हैं न वास्तविक बाह्यविषयक विचार ही अपितु उन विषयों के संस्कार रूपी भाव हैं जिनपर चित्त की एकाग्रता आह्लादपरक होती है। वहाँ अभिनव गुप्त के शब्दों में स्वात्मपरामर्श होता है तथा पण्डितराज के शब्दों में चेतना के आवरण का भंग। अतएव यह दशा आनन्दानुगत संप्रज्ञात के नाम से कही गई है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के आस्वाद्यत्वात् के आधार पर रस को आस्वाद का विषय मानकर जो उसे विषयनिष्ठ कहते है वे यथार्थवादी नहीं हैं। क्योंकि उसे विषयनिष्ठ मानने पर वह अधिक से अधिक विचारात्मक कोटि का ही रह जायगा आनन्दात्मक नहीं हो सकेगा। क्योंकि हमें उसकी अनुभूति एकमात्र आनन्दात्मक ही होती है जो चेतना का धर्म है, विषय या वस्तु का नहीं, अतः वह आस्वादनात्मक अनुभव ही हो सकता है, आस्वाद का विषय नहीं, जो आनन्दानुगत संप्रज्ञात की कोटि में ही आता है न कि विचारानुगत की कोटि में।

विधान

चित्त को एकाग्र या निरुद्धावस्था तक ले जाने के लिये योगशास्त्र उसके प्रसादन का विधान करता है। प्रसन्नचित्त ही सत्त्वशील हो कर एकाग्र, अनन्तर निरुद्ध हो सकता है। योगभाष्य में भी कहा है—**प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति। तदेव तमसा अनुविद्धम् अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति। तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति। तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति। तत् परं प्रसंख्यानमिति आचक्षते ध्यायिनः।**[२३] चित्त का प्रसादन रजस् एवं तमस् को अभिभूत कर सत्त्व का उद्रेक करना ही है। एतदर्थं योगशास्त्र जगत् के सभी विषयों को चार मौलिक भागों में विभक्त कर उनके प्रति विशेष प्रकार की भावना करने का विधान करता है। उसका कहना है कि जगत् सुख, दुःख, पुण्य और पाप इन्हीं चार का समवाय है। यहाँ कुछ विषय सुखात्मक हैं तो कुछ दुःखात्मक, कुछ पुण्यप्रद हैं तो कुछ पापमय। इन्हीं

२३. योगसूत्र १।२ पर भाष्य।

चारों विषयों के साथ चार प्रकार की भावना करने से चित्त प्रसन्न अर्थात् सत्त्वशील हो जाता है।[२४] जो विषय या व्यक्ति सुखी हैं उनसे मैत्री की भावना, दुःखी के प्रति करुणा की भावना, जो पुण्यप्रद हों उनके प्रति मुदिता तथा जहाँ पाप है उसके प्रति उपेक्षा की भावना करने से शुक्ल धर्म की उत्पति होती है। अनन्तर चित्त प्रसन्न होकर सहज में ही एकाग्रता को प्राप्त कर जाता है। **तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्भोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्, दुःखितेषु करुणाम्, पुण्यात्मकेषु मुदिताम्, अपुण्यात्मकेषु उपेक्षाम्, एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते, ततश्च चित्तं प्रसीदति, प्रसन्नम् एकाग्रं स्थितिपदं लभते।**[२५] यही चित्त की स्थितिशीलता है।

भरतप्रोक्त रसों की अनुभूतिप्रक्रिया को समझने के लिये योगदर्शन का यह प्रकरण अत्यन्त उपादेय है। पहले कहा जा चुका है कि किसी भी बाह्य विषय के साथ इन्द्रियों का संनिकर्ष होने पर चित्त में नाना प्रकार की प्रतिक्रियाएं होने लगती हैं। चित्त की यह प्रतिक्रिया सदा एक सी नहीं होती। अपितु इसके उत्तेजक बाह्य विषय के रूप में भेद होने से उसे भी विविध प्रकार का होना चाहिए। इन प्रतिक्रियाओं का वर्गीकरण बाह्य आलंबन के अनुरूप ही संभव होगा। बाह्य विषयों के मौलिक चार भेदों—सुखास्पद, दुःखास्पद, पुण्यप्रद एवं पापमय का प्रतिपादन योगदर्शन के अनुसार ऊपर किया गया है। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावनाएं ही हमारे चित्त की प्रतिक्रियाओं के प्रकार हैं जिनका विभाजन सुख, दुःख, पुण्य एवं पापशील बाह्य विषयों के आधार पर किया गया है। यहाँ मैत्री का संबंध सुख से, करुणा का दुःख से, मुदिता का पुण्य से एवं उपेक्षा का पाप से है।

उक्त विवेचन ये यह स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य विषयों से प्रभावित होकर हमारे चित्त में जो विकार उत्पन्न होते हैं उनके चार ही प्रकार संभव हैं। विकास, विस्तार, क्षोभ एवं विक्षेप। चित्त की ये प्रतिक्रियाएं मनोविकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। इनमें से एक-एक को लेकर यहाँ इनका विवेचन किया जा रहा है।

१. विकास

यह चित्त की वह विकृत अवस्था है जो पुण्यात्मक किसी विषय या व्यक्ति के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने पर स्वतः उत्पन्न हो जाती है।

---

२४. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातः चित्तप्रसादनम्। यो० सू० १।३३

२५. योगसूत्र १।३३ पर व्यासभाष्य।

इसकी पहचान यह है कि उस समय चित्त में मुदिता (प्रसन्नता) की भावना का उदय हो जाता है। उस समय व्यक्ति का मन खिल उठता है और जिस प्रकार कली रूप में अवस्थित पुष्प का विकास होने पर उसका सर्वस्व सौरभ चतुर्दिक बिखरने लगता है उसी प्रकार चित्त के विकसित होने पर उसमें निहित सत्त्वगुण का आस्वाद होने लगता है जिसका क्रियात्मक रूप व्यक्ति की प्रसन्नता की मुद्रा है। इसकी अनुभूति हमें शृंगार एवं हास्य रसों में होती है। अतएव नाट्यशास्त्र में कहा है कि लोक में जो कुछ भी शुचि, मेध्य, उज्ज्वल तथा दर्शनीय हैं उसका उपमान शृंगार है।[२६]

इससे यह स्पष्ट है कि शृंगार की अनुभूतिरूप मुदिता की भावना के आस्पद या उत्तेजक बाह्य विषय का पुण्यप्रद होना कितना युक्तियुक्त एवं शास्त्रसम्मत है। कामुकता का प्रदर्शन शृंगार का उद्भावक कदापि नहीं हो सकता अपितु उसका आस्पद कोई पुण्यप्रद व्यक्ति या उसके क्रियाकलाप या विकार ही हो सकते हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या योग में भी शृंगार की भावना से चित्त का विकासात्मक प्रसादन अभीष्ट है ? उसके उत्तर में केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि योगमार्ग अनागत दुःख के निवारण का प्रयास है जबकि नाट्य या काव्य का विधान वर्तमान दुःख के निरसन रूप आनन्द की प्राप्ति के लिये हुआ है। अतः योग में जो त्याज्य है वह यहाँ ग्राह्य हो सकता है। समानता इतनी ही है कि उभयत्र चित्त संप्रज्ञात की अवस्था में एकाग्र होता है।

२. विस्तार

चित्त का विस्तार उसकी दूसरी प्रतिक्रिया है। जब किसी ऐसे बाह्य विषय से इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है जो सुखात्मक है तो चित्त का विस्तार हो जाता है। यहाँ विस्तार पद उसके विकार के स्वरूप का निरूपण करता है। विस्तार देशपरक शब्द है जो स्थान का बोध कराता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि चित्त जितने स्थान में है उससे अधिक स्थान में हो जाता है अर्थात् चित्त के सत्त्व गुण का प्रसरण व्यक्ति के समूचे शरीर में होने लगता है। जिसके परिणामस्वरूप उसके अंग प्रत्यंग क्रियाशील हो उठते हैं। चित्त के विस्तृत होने का अनुभव मैत्री की भावना के रूप में होता हैं जिसका सम्बन्ध मुख्यतः वीर एवं गौणतः अद्भुत रस से है। वीर के स्थायी भाव उत्साह का रग-रग

---

२६. यत्किंचित्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते।
ना० शा०, षष्ठ अध्याय, पृ० ३०१ बड़ौदा।

में संचार ही चित्त के विस्तार का द्योतक है। जब कोई सुखावह वस्तु, विषय या व्यक्ति हमारे मन को प्रभावित करता है तो हम में उत्साह का संचार हो जाता है जो चित्त को विस्तार के रूप में परिणत कर देता है। फलस्वरूप हम चुप नहीं रह पाते, क्रियाशील हो उठते हैं। यही मैत्री की भावना है। मन में मैत्री की भावना का आना ही उसके विस्तार का लक्षण है जो किसी सुखप्रद व्यक्ति, वस्तु या विषय के प्रत्यक्ष या परोक्ष संनिधान से संभव होती है। प्रत्येक भला आदमी दूसरे को सुखी देख कर उससे स्नेह करता है। उससे जलना तो अधमता है। अतएव नाट्यशास्त्र में वीर को उत्तम की प्रकृति कहा है जो असंमोह, अध्यवसाय, नय, विनय एवं पराक्रम आदि क्रियाओं से उत्पन्न होता है।[२६]

३. क्षोभ

दुःख से चित्त का क्षुब्ध होना सर्वथा स्वाभाविक है। अतः जब दुःखास्पद वस्तु या विषय का हमारी इन्द्रियों से सन्निकर्ष होता है तो चित्त में उसकी प्रतिक्रिया क्षोभ के रूप में बदल जाती है जिसका परिणाम करुणा की भावना है। क्षोभावस्था में चित्त के सत्त्व, रजस् एवं तमस् तीनों गुणों का विकट संघर्ष होता है जिससे शरीर के भीतर का स्नायुमण्डल झकझोर उठता है। यही कारण है कि उसके क्रियान्तर परिणाम रुदन, विलाप तथा मूर्छा आदि होते हैं। रुदन या विलाप क्षुब्ध चित्त के शान्त होकर अपने स्वरूप में आने की स्वाभाविक प्रक्रिया है जिससे चित्त स्वस्थ हो जाता है। भवभूति ने भी कहा है—**शोके क्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते।**[२७] रौद्र रस में मुख्यतः तथा करुण में गौणतः क्षुब्ध चित्त में करुणा की अनुभूति होती है।

४. विक्षेप

चित्त की विक्षिप्त अवस्था उपेक्षा की भावना को जन्म देती है। जुगुप्सा और भय के रूप में इसकी प्रतिक्रिया होती है। इसके परिणाम बीभत्स एवं भयानक हैं। चित्त का विक्षेप जो उपेक्षा की भावना को जन्म देता है, किसी पापमय बाह्य विषय की प्रतिक्रिया रूप होता है।

इस प्रकार उक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि विकास, विस्तार,

---

२६. अथ वीरो नाम उत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः स च असम्मोहाध्यवसायनयविनयबलपराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिः विभावैः उत्पद्यते।
नाo शाo प्रo भाo, पृo ३२४

२७. उत्तररामचरित ३।२९

क्षोभ एवं विक्षेप ये ही चित्त के मूल विकार हैं जिनका अनुभव मुदिता मैत्री, करुणा और उपेक्षात्मक भावनाओं के रूप में होता है। अतएव नाट्य-शास्त्र में शृंगार, वीर, बीभत्स एवं रौद्र चार को ही मूल रस कहा गया है। शेष हास्य, करुण, अद्भुत एवं भयानक पूर्वोक्त चारों से ही उत्पन्न माने गये हैं—**तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा—शृङ्गारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति।** अत्र—

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥[२८]

२८. नाट्यशास्त्र, ६।३९

६

रसों की संख्या

रसों की संख्या के विषय में यद्यपि स्वतन्त्र रूप से पुस्तक भी लिखी जा चुकी है शोध पत्रों की तो बात ही क्या है, तथापि इस विषय के साथ अभी पूर्ण न्याय नहीं हो पाया है। रससिद्धान्त का यह एक ऐसा पक्ष है जिसे रसों की घटती बढ़ती संख्या के उल्लेख मात्र से प्रकाशित नहीं मानना होगा। यहाँ प्रश्न केवल मान्यता का नहीं है अपितु मान्यता विशेष के पीछे उसके आधार की गवेषणा अपेक्षित है।

सामान्य रूप से स्वीकृत धारणा यह है कि रस नौ होते हैं। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के मूर्धन्य आचार्य मम्मट ने अपनी विश्रुत कृति 'काव्य-प्रकाश' की प्रथम कारिका में ही कवि की निर्मिति 'कविता' के लिए "नवरसरुचिराम्" विशेषण का प्रयोग किया है जिसकी व्याख्या प्रसिद्ध टीकाकार झलकीकर वामन ने दो प्रकार से की है—"नवसंख्याकाः रसाः शृङ्गारादयो यस्यां सा नवरसा, सा चासौ अतएव रुचिरा मनोहरा च ताम्।" अथवा "नव अवयवाः यस्य सः नवावयवः, स चासौ रसश्च नवरसः, तेन रुचिराम्।" इनमें से पूर्वत्र 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" पाणिनीय सूत्र से तथा उत्तरत्र 'शाकपार्थिवादि' नियम से मध्यम पद 'अवयव' का लोप होकर उभयत्र कर्मधारय समास के द्वारा नवरसरुचिरां पद व्युत्पन्न होता है। आचार्य मम्मट का यह कथन संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के इतिहास में रसों की कुल संख्या नौ होने की सार्वभौम मान्यता का परिचायक है। यशस्तिलक चम्पू नामक प्रसिद्ध साहित्यिक कृति में भी यही मान्यता स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है जब कृतिकार ने गुणालंकार रीति वृत्ति प्रवृत्ति प्रभृति साहित्यिक तत्त्वों को काव्यवृक्ष के अंग-प्रत्यंग के रूप में परिगणित किया है—

> त्रिमूलकं द्विधोत्थानं पञ्चशाखं चतुश्छदम्।
> योऽगं वेत्ति नवच्छायं दशभूमिं स काव्यकृत्॥[1]

यहाँ नवच्छायं से नौ प्रकार के रसों का श्लेष के द्वारा उल्लेख किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार नये वृक्ष का सर्वसामान्य

१. यशस्तिलकचम्पू ३।२७४

को मिलने वाला सुख उसकी घनी छाया होती है उसी प्रकार काव्यगत रसों का सुख सभी सामाजिकों को सहज उपलब्ध होता है। किन्तु संस्कृत के ही आरम्भकालीन कवियों एवं काव्यशास्त्रियों की कृतियों में रसों की कुल संख्या नौ के स्थान पर आठ का ही उल्लेख प्राप्त होता है । कविकुलगुरु कालिदास ने नाट्य को अष्टरसाश्रय कहा है—

मुनिना भरतेन यः प्रयागो भवतीस्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः ।[२]

आचार्य दण्डी ने कवि की वाणी को 'अष्टरसायत्ता' का विशेषण दिया है ।[३] इनके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिनमें रसों की संख्या के दस, बारह या इससे भी अधिक होने का विधान हुआ है। ऐसी स्थिति में इस प्रश्न को लेकर शोध की प्रक्रिया से इसका निरूपण सर्वथा उपादेय है। भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ की कृति रसगङ्गाधर तक के संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों में उपलभ्यमान एतद् विषयक सामग्री का सम्यक् रूप से ऊहापोह करते हुए रसों की संख्या की विविधता के पीछे निहित आधारभूत सिद्धान्तों को प्रकाश में लाना एवं उनका परीक्षण आवश्यक है।

संस्कृत-साहित्या-शास्त्र के सभी इतिहासकार इस तथ्य को एकमत से स्वीकार करते हैं कि अबतक की उपलब्ध सामग्री के आधार पर रस का सैद्धान्तिक विवेचन करने वाला आद्य ग्रन्थ "भरत-नाट्यशास्त्र" है । नाट्यशास्त्र में रस का उल्लेख सम्पूर्ण ग्रन्थ में अनेकत्र प्राप्त होता है। किन्तु इसके षष्ठ एवं सप्तम अध्याय विशेषरूप से रस एवं भाव के सैद्धान्तिक विवेचन के लिए विनियोजित हुये हैं जिनमें षष्ठ अध्याय विशुद्ध रूप से रसपरक है। अध्याय के आरम्भ में ही रसों के नाम एवं उनकी संख्या का परिगणन करते हुए कहा है—

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥
एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना ॥[४]

यहाँ यह बताया गया है कि द्रुहिण अर्थात् ब्रह्मा ने जिस नाट्यवेद की रचना की और भरत को जिसका उपदेश दिया उसमें शृङ्गार, हास्य, करुण

२. विक्रमोर्वशीय १।१८
३. काव्यादर्श २।२९२
४. नाट्यशास्त्र ६।१५-१६

रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स एवं अद्भुत नामक आठ रसों का ही विधान था। अध्याय के अन्त में भी रसविषयक विवेचन का समापन करते हुए रसों की आठ संख्या का पुनरुल्लेख इस बात का पुष्कल प्रमाण है कि नाट्यशास्त्र के अनुसार रसों की कुल संख्या आठ ही है जिनका सलक्षणोदाहरण निरूपण नाट्यशास्त्र में हुआ है—

एवमेते रसा ज्ञेयास्त्वष्टौ लक्षणलक्षिताः ॥[५]

नाट्यशास्त्र के ही सप्तम भावाध्याय में निरूपित स्थायिभावों से भी रसों की इस आठ संख्या की ही पुष्टि होती है। क्योंकि स्थायी भाव ही विभावादि से संवलित होकर रसके रूप में परिणत होते हैं। इस प्रकार स्थायिभावों की संख्या के अनुसार भी रसों की कुल संख्या आठ ही सिद्ध होती है।[६] कविकुलगुरु कालिदास का यह कथन कि मुनि भरत ने आठ रसों से युक्त नाट्य के प्रयोग का अपनी कृति में विधान किया है[७], इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि कालिदास के समय तक भरत का नाट्यशास्त्र रसों की आठ संख्या के सिद्धान्त का ही प्रतिपादक था।

किन्तु नाट्यशास्त्र के इसी षष्ठ अध्याय में नवम शान्त रस का निरूपण भी उपलब्ध होता है जिसे मोक्ष का प्रवर्तक कहा गया है। इस अंश का निरूपण भी अन्य रसों के निरूपण के समान पहले गद्यात्मक अनन्तर कारिकाओं में किया गया है। पर बड़ौदा संस्करण में इन श्लोकों को कोई संख्या नहीं दी गई है तथा अन्तिम श्लोक में कहा है —

एवं नवरसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः।[८]

इतना ही नहीं इसी सन्दर्भ में शान्त को सभी भावों एवं रसों की मूल-प्रकृति होने का विधान भी किया है जिसका अभिप्राय यह है कि सभी प्रकार के भाव शान्त के ही विकार हैं तथा शान्त ही उनकी मूल प्रकृति है—

भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः[९]

नाट्यशास्त्र के रसों की संख्या विषयक इन दोनों अंशों में विरोध स्पष्ट

---

५. नाट्यशास्त्र ६।८३
६. वही ६।१७, ३३
७. विक्रमोर्वशीय १।१८
८. नाट्यशास्त्र पृष्ठ ३३५
९. वही पृष्ठ ३३८

है। अतः शान्तरस परक अंश को निश्चित रूप से मौलिक नहीं कहा जा सकता। वैसे तो सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र किसी एक व्यक्ति के द्वारा कृत किसी एक काल की रचना नहीं है तथापि इसके अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त करने की निम्नतम काल सीमा तृतीय शताब्दी ईस्वी मानी गई है। पर शान्तरस विषयक उक्त विवेचन को उस सीमा के भीतर का स्वीकार करने में अनेक विप्रतिपत्तियाँ उठ खड़ी होती हैं। रसों की आठ संख्या के विधान का विरोध तो आपाततः परिलक्षित होता ही है। इसके अतिरिक्त जहाँ आठ रसों के विधान के साथ ब्रह्मा का नाम जुड़ा हुआ है वहाँ नव रसों के विधान को नाट्यज्ञों के द्वारा दृष्ट मानना स्वयं इस बात का द्योतक है कि नवम रस की कल्पना बहुत बाद की है जो नाट्यशास्त्र की मूलप्रकृति से मेल नहीं खाती। किन्तु इस अंश को नाट्यशास्त्र से सर्वथा असम्पृक्त एवं विशुद्ध रूप से प्रक्षिप्त मानने में भी हमारे समक्ष अनेक कठिनाइयाँ हैं। जिनमें से एक कठिनाई यह है कि इस अंश पर भी अभिनवगुप्त की टीका "अभिनव-भारती" उसी प्रकार विस्तृत रूप में उपलब्ध होती है जिस प्रकार अध्याय के शेष भाग पर। इतना ही नहीं अभिनवगुप्त ने अपनी टीका में 'शान्त' के भी रस होने की बात का बड़े ही वैदुष्यपूर्ण ढंग से समर्थन किया है। उनके द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित युक्तियों एवं तर्कों का अनुशीलन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन दिनों शान्त रस मनीषियों के विवाद का मुख्य विषय बना हुआ था। तथा इसके पक्ष एवं विपक्ष में नाना प्रकार के मतमतान्तर प्रचलित हो गये थे। अभिनवगुप्त ने अपनी विलक्षण प्रतिभा से शान्त रस के विरोधियों के तर्कों का निरसन करते हुए साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में उसकी प्रतिष्ठा में बहुत बड़ा योग दिया। इसका मुख्य कारण यह है कि शान्त रस की स्थापना से रससिद्धान्त की आध्यात्मिक व्याख्या करने में अभिनवगुप्त को बड़ी सहूलियत हुई। अतएव उन्हें वीर एवं बीभत्स रसों में शान्त के अन्तर्भाव की बात कथमपि ग्राह्य नहीं हुई।

रसों की विविधता के आधार का अनुसंधान करते हुए आचार्य अभिनव गुप्त ने पुरुषार्थ-चतुष्टय को ही इनके विभेद का आधार निर्धारित किया तथा तदनुसार ही रसों का वर्गीकरण करते हुए वीर को धर्मप्रधान, रौद्र को अमर्ष (अर्थ) प्रधान, शृङ्गार को कामप्रधान तथा शान्त को मोक्ष फलक रस कहा है। नाट्यशास्त्र के मूल में रसों की आठ संख्या के होने के स्पष्ट विधान से अभिनवगुप्त को नवम शान्त रस के समर्थन में कठिनाई का अनु-भव अवश्य हुआ। अतएव नाट्यशास्त्र के संख्यापरक उल्लेखों को वे बहुत महत्त्व नहीं देना चाहते। इस सम्बन्ध में एक तर्क उपस्थापित करते हुए वह

कहते हैं कि भरत ने स्थायि-भावों की संख्या का जो स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है उसका कोई रहस्य अवश्य है और वह यह है कि ये स्थायी भाव विभावादि से जब पूर्णतया परिपुष्ट नहीं होते तो मात्रव्यभिचारी रह जाते हैं। अतः रसों के विषय में भी संख्या का उल्लेख उपलक्षण मात्र है, इदमित्थं रूप से निर्धारण नहीं।[१०] आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा कृत रसों की नौ संख्या के समर्थनात्मक विवेचन के पीछे रसों में 'शान्त' की कल्पना एवं उसके अन्तर्भाव के कारण का एक इतिहास है जिसका सम्यक् रूप से ऊहापोह हुए बिना रसों की संख्या विषयक जिज्ञासा को शान्ति नहीं मिल सकती।

अभिनवगुप्त के पूर्ववती आचार्यों में से रुद्रट ने अपनी कृति 'काव्यालंकार' में भरतप्रोक्त उक्त आठ रसों के अतिरिक्त शान्त एवं प्रेयान् नामक दो और रसों के होने का विधान किया है—

> शृङ्गारवीरकरुणा बीभत्सभयानकाद्भुता हास्यः।
> रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्या रसाः सर्वे॥[११]

इनके अनुसार शान्त तो रस है ही प्रेयान् को भी रस का स्थान प्राप्त है और इस प्रकार रसों की कुल संख्या दस हो जाती है। रुद्रट का तर्क है कि आचार्यों ने शृङ्गार आदि को रस इसलिए कहा है कि उनमें रसनीयता अर्थात् अनुभव में आने की योग्यता है। चूँकि यह योग्यता निर्वेद और स्नेह आदि भावों में भी पायी जाती है अतः शान्त एवं प्रेयान् के भी रस होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए—

> रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
> निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः॥[१२]

रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु का तो यहाँ तक कहना है कि चित्त की कोई भी वृत्ति ऐसी नहीं है जो परिपोष पाकर रस के रूप में परिणत न हो जाय। उनका तर्क है कि भरत ने रसों की जो आठ या नौ संख्या कही है उसका भी आधार सहृदयों के हृदय के आवर्जन में प्रचुरता का होना ही है। रुद्रट के भी पूर्ववर्ती आचार्य उद्भट ने भी रसवत् आदि अलंकारों के निरूपण के प्रसंग में रसों के नाम और उनकी संख्या का परिगणन करते हुए नाट्य में भी शान्त सहित नौ रसों के होने का विधान किया है—

---

१०. नाट्यशास्त्र ६।३५ पर अभिनवभारती।

११. काव्यालंकार २२।३

१२. वही १२।४

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्सादृभुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः ॥[१३]

यहाँ शान्त को रसों में परिगणित कर इदमित्थं रूप से उनकी नौ संख्या का उल्लेख इस तथ्य का द्योतक है कि शान्त को रस मानने की परम्परा के जन्मदाता अभिनव-भारतीकार अभिनवगुप्त ही नहीं हैं अपितु उनसे पर्याप्त पूर्व काल से ही वह प्रचलित थी। भट्टोद्भट के निरूपण में 'नाटच' पद का उल्लेख विशेष महत्त्व का है। ऐसा प्रतीत होता है कि शान्त रस के नाट्य में निष्पन्न न होने की बात उस समय भी कही जाती थी जिसके प्रतिरोध में आचार्य ने विशेष रूप से नाट्य पद का समुल्लेख आवश्यक समझा। किन्तु आगे चलकर मम्मट प्रभृति आचार्यों ने भी शान्त रस की अभिनेयता को असंभावित बताकर नाटच में उसकी संभावना का सर्वथा निरसन कर दिया। उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने जो अभिनवगुप्त के साहित्यिक गुरु भी थे 'काव्यालंकारसारसंग्रह' की उपर्युक्त कारिका की टीका करते हुए कहा है कि शृङ्गारादि ये नौ रस धर्मार्थकाममोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के उपाय के रूप में ही काव्य में उपनिबद्ध होते हैं। इनके रस होने का रहस्य इन्होंने भी रुद्रट के समान ही रत्यादि भावों की आस्वादनीयता को ही बताया है। इसी को वे रस शब्द की तान्त्रिकता कहते हैं। समर्थन में प्रतिहारेन्दुराज ने रुद्रट की उपर्युक्त कारिका को भी समुद्धृत किया है। उद्भट के समसामयिक आचार्य वामन ने 'कान्ति' नामक गुण में ही रसों का समावेश माना है। अतः उनके नाम तथा संख्या का उल्लेख उनकी लेखनी से कहीं भी नहीं हुआ है। किन्तु उनके ग्रन्थ की प्रसिद्ध टीका कामधेनु ने शान्त सहित सभी नौ रसों को अपनी टीका में उदाहृत किया है।

वामन के पूर्ववर्ती दाक्षिणात्य आचार्य दण्डी ने अपनी महनीय कृति 'काव्यादर्श' में भरत प्रोक्त रति आदि आठों स्थायिभावों के रस रूप में परिणत होने का अलग-अलग उल्लेख किया है।[१४] अन्त में काव्य में रस की स्थिति को आठ रसों से युक्त कहकर इन्होंने भट्टोद्भट से लेकर अभिनव गुप्त तक के आचार्यों द्वारा निरूपित नवम शान्त रस की सत्ता से सर्वथा अपरिचित होने का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है—

इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ॥[१५]

---

१३. काव्यालंकारसारसंग्रह ४।४

१४. काव्यादर्श २।२८१, २८३, २८५, २८७

१५. काव्यादर्श २।२९२

दण्डी के पूर्ववर्ती आचार्य भामह के विवेचनों में सभी रसों के नाम या उनकी कुल संख्या का उल्लेख कथमपि नहीं हुआ है। वे शृङ्गारादि रस कहकर ही रह जाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वे रससिद्धांत से तो परिचित हैं पर रसों की संख्या के विषय में किसी प्रकार के विवाद की जानकारी उन्हें नहीं है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भरत के नाट्यशास्त्र में उपलभ्यमान शान्त रस के विवेचन के प्रक्षेप का काल निश्चित रूप से भामह और दण्डी के बाद का है। आचार्य दण्डी तक रसों की संख्या के केवल आठ तक सीमित रहने की बात ही प्रमाणित होती है। नाट्यशास्त्र में शान्त रस के प्रक्षेप का काल भट्टोद्भट के बाद का ही है जिसका संकेत रुद्रट कृत काव्यालंकार की टीका में नमिसाधु ने "भरतेन ... अष्टौ वा नव वा रसा उक्ताः" की उक्ति से किया है।

आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा ध्वनि-सिद्धान्त की प्रस्थापना से काव्य के आधायक दोष, गुण, अलंकार, रीति एवं रस प्रभृति तत्त्वों के स्वरूप में पर्याप्त निखार आया। स्वयं आनन्द वर्धन ने किसी भी तथ्य का ग्रहण या तिरस्कार किसी की मान्यता के अनुसार न करते हुए युक्ति एवं तर्क के आधार पर ही किया है। इन्होंने रसों के रसत्व प्राप्ति का आधार सहृदय सामाजिक के चित्त की द्रुति, दीप्ति एवं उसके विकास को बताया। शृङ्गार एवं करुण रसों में चित्त की द्रुति पायी जाती है तथा रौद्र आदि चित्त की दीप्ति से परिलक्षित किये जाते हैं।[१६] वीर आदि में चित्त का विकास पाया जाता है। अतः उनके अनुसार जो भाव काव्य में निरूपित होकर सहृदय सामाजिक के चित्त की द्रुति, दीप्ति या उसके विकास में समर्थ हो पाते हैं वे सभी रस कहे जाने योग्य हैं। भौतिक सुखों को भोगने की तृष्णा के क्षय से होने वाला जो सुख है उसी का परिपोष शान्त रस के रूप में होता है जिसकी अनुभूति यद्यपि सभी सहृदयों को समान रूप में नहीं हो पाती तथापि जिनको होती है उनमें शान्त रस की स्थिति स्वीकार करनी ही होगी। वीर रस में शान्त के अन्तर्भाव की बात का आनन्दवर्धन ने यह कहकर निराकरण किया कि दोनों रसों में चित्त की भिन्न-भिन्न अवस्थायें होती हैं। जहाँ वीर में अहंकार का प्रकर्ष एवं चित्त का विकास होता है वहाँ शान्त में अहंकार का प्रशम एवं चित्त की द्रुति। अतः आनन्दवर्धन ने शान्त रस की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर रसों की संख्या के विषय में कुछ न कहते हुए भी परोक्ष रूप से नौ संख्या के पक्ष का ही समर्थन किया है। महाभारत को शान्त

---

१६. ध्वन्यालोक का० २।८,६

रसप्रधान काव्य बताना भी रसों की कुल संख्या के नौ होने के पक्ष की ही प्रकारान्तर से पुष्टि करना है।

आनन्दवर्धन के परवर्ती पर अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती आचार्य धनञ्जय ने स्थायिभावों का परिगणन करते हुए शम के भी स्थायी भाव होने का प्रश्न उठाया है और यह कहकर निषेध किया है कि नाट्य में इसकी पुष्टि नहीं हो पाती—

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥[१७]

धनञ्जय का तर्क है कि निर्वेद आदि चित्त के वे भाव हैं जो क्षणिक होते हैं। अतः उनमें स्थायी भाव होने की क्षमता ही नहीं है। फिर वे रस के रूप में सामाजिक की वासना का विषय किस प्रकार हो सकते हैं? क्योंकि ये तो वस्तुतः रत्यादि अन्य भावों के अभाव रूप होते हैं। इनके परिपोष से नाट्य में विरसता की आशंका होती है अतः इनको स्थायी भाव ही नहीं मानना चाहिए। फलतः स्थायिभावों की कुल संख्या आठ ही समुचित है—

निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ॥[१८]

दशरूपकार ने स्थायिभावों एवं रसों की आठ-आठ संख्या के पीछे निहित मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहा है कि शृङ्गार, वीर, बीभत्स एवं रौद्र ये चार ही मौलिक रस हैं। क्योंकि काव्यार्थ के संभेद से सहृदय सामाजिक के मन की प्रतिक्रिया विकास, विस्तार, क्षोभ एवं विक्षेप के रूप में चार ही प्रकार की होती है। शृङ्गार में चित्त का विकास, वीर में विस्तार, रौद्र में क्षोभ तथा बीभत्स में विक्षेप होता है। योगदर्शन में इन्हें ही मुदिता, मैत्री, करुणा एवं उपेक्षा की संज्ञा दी गई है। हास्य, अद्भुत, करुण एवं भयानक रसों में भी क्रमशः चित्त की वही विकास, विस्तार, क्षोभ एवं विक्षेप वृत्तियाँ जन्म ले लेती हैं अतएव इन्हें शृङ्गारादि मूलरसों से ही उत्पन्न माना गया है।[१९]

भरत के नाट्यशास्त्र में भी शृङ्गार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण तथा बीभत्स से भयानक को उत्पन्न कहते हुए शृङ्गार, वीर, रौद्र एवं बीभत्स नामक चार रसों के ही मौलिक होने का विधान हुआ है—

१७. दशरूपक ४।३५

१८. वही ४।३६

१९. नाट्यशास्त्र ६।३९

तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा श्रृङ्गारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति। अत्र—

श्रृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥[२०]

दशरूपक के टीकाकार धनिक ने अपनी टीका 'अवलोक' में इसका निरूपण बहुत ही विस्तार एवं गहन रूप में किया है। इसी पुस्तक के 'रस मनोविज्ञान' नामक पञ्चम पक्ष में इसका पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है। यहाँ हम इतना ही कहना चाहेंगे कि भरत ने चार ही रसों के मौलिक होने की बात जो कही थी उसके आधार भूत सिद्धान्त का प्रतिपादन धनञ्जय एवं धनिक ने किया। फलतः मूलतः रसों की संख्या चार है तथा उनके परिणाम स्वरूप शेष चारों के योग से रसों की कुल संख्या आठ तक ही समुचित सिद्ध होती है।

रसों की संख्या के विषय में भोज का सिद्धान्त सबसे निराला है। उनकी मान्यता है कि रस अनेक नहीं हो सकते। अपि तु परीक्षा करने पर केवल श्रृङ्गार ही एकमात्र रस प्रमाणित होता है। भावों में से आठ स्थायी, आठ ही सात्त्विक तथा तैंतीस व्यभिचारी के होने का सिद्धान्त भी उनकी दृष्टि से सही नहीं है। ये सभी उनचास भाव स्थिति के अनुसार कभी व्यभिचारी, कभी स्थायी तो कभी सात्त्विक की संज्ञा के भागी हुआ करते हैं। क्योंकि इन सब की उत्पत्ति का स्थल होता है मानव मन, जहाँ कोई भी भाव निरन्तर स्थायी रूप से बना नहीं रह सकता।[२१]

रत्यादि स्थायिभावों के ही परम प्रकर्ष भाव को प्राप्त कर रस होने की बात का खण्डन करते हुए भोज कहते हैं कि यदि परम प्रकर्षभाव को प्राप्त करने पर ही कोई भाव रस हो सकता होता तो हर्ष आदि को भी रस कहा जाना चाहिए। यदि निरन्तर अनुभूयमान हर्ष आदि भाव प्रकृष्ट होकर भी रस नहीं हो सकते तो भय, हास, शोक एवं क्रोध आदि भाव भी प्रकृष्टता को पाकर रस क्यों कहे जाते हैं? क्योंकि वे तो हर्ष की अपेक्षा अल्पकाल तक ही स्थित रहते हैं। भोज की तो घोषणा है कि रस आठ ही होते हैं यह बात कथमपि स्वीकार्य नहीं। शान्त, प्रेयान्, उद्धत एवं ऊर्जस्वित् के भी रस होने के विधान यत्र तत्र प्राप्त होते ही हैं।[२२]

---

२०. वही ४।४३, ४४, ४५
२१. श्रृङ्गारप्रकाश, द्वि० भाग, प्रकाश सं० ११ पृ० ४४२
२२. वही पृ० ४४१

शृङ्गार आदि चार रसों से हास्य आदि चार की उत्पत्ति का भरत का सिद्धान्त भी भोज को ग्राह्य नहीं है। उनका कहना है कि इसके पीछे कोई निश्चित नियम काम नहीं करता। उदाहरणतः शृङ्गार के बिना भी हास्य की उत्पत्ति देखी जाती है तथा शृङ्गार के रहते हुए भी उससे उत्पन्न न होकर हास्य की अन्य प्रकार से भी सृष्टि होती है। यही स्थिति करुण, अद्भुत एवं भयानक रसों की भी है।[२३] इस प्रकार भरतनाट्यशास्त्र द्वारा प्रवर्तित तथा धनञ्जय एवं धनिक द्वारा समर्थित रसों की मौलिक संख्या के चार ही होने के सिद्धान्त का भी भोज ने अपलाप कर दिया है।

भोज का यह भी मत है कि प्रकर्ष को प्राप्त करने पर ही यदि रस की स्थिति माननी है तो भरत प्रोक्त सभी उनचास भाव जिनमें स्थायी, सात्त्विक एवं व्यभिचारी सभी सम्मिलित हैं, विभावादि से परिपुष्ट होकर रस होने की क्षमता रखते हैं। फिर तो रसों की कुल संख्या आठ या नौ तक ही सीमित न होकर उनचास ही माननी होगी। इसलिये यही मानना समुचित होगा कि रस तो एक मात्र शृङ्गार ही है। जिस प्रकार एक ही अग्नि को पृथ्वी से सम्बन्धित होने पर आग, आकाश में संचरण करने वाली को दिव्य नक्षत्र तथा उदर में स्थित होकर भोजन को पचाने वाली को जठराग्नि आदि भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है तथा इनकी क्रियाओं को क्रमशः दाह, प्रकाश एवं पाक की संज्ञा देते हैं और धूम, ज्योति एवं अङ्गार आदि अनेक अवस्थायों में हम इन्हें पाते हैं, उसी प्रकार एक ही शृङ्गार की भी रस एवं उनके आभास आदि अनेक जातियाँ होती हैं। उत्कण्ठा आदि क्रियाएँ होती हैं तथा उत्पत्ति, अभिवृद्धि एवं स्थिरता आदि विविध अवस्थायें होती हैं।[२४]

महाराजा भोज का गह शृङ्गार वस्तुतः रस नहीं अपितु रसिकता है जिसके अभाव में रस क्या वस्तु एवं अलंकारों के सौन्दर्य की भी अनुभूति व्यक्ति नहीं कर सकता। अथवा फ्रायड की तरह ही भोज भी इस बात को बताना चाहते हैं कि साहित्यिक किसी भी प्रकार की गतिविधि के मूल में शृङ्गार भाव का होना अनिवार्य है। सहृदयता शृङ्गार मयी होती है तथा उसी से आंकी भी जाती है। भोज आत्मा के विशेष गुण अहंकार से

---

२३. शृङ्गारप्रकाश, द्वितीयभाग पृ० ४४२

२४. वही पृ० ४४६

रस का तादात्म्य स्थापित करते हुए इसे बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, आदि आत्मीय गुणों के उत्कर्ष के बीज की संज्ञा देते हैं।

अप्रातिकूलिकतया मनसोमुदादेर्यस्संविदोऽनुभवहेतुरिहाभिमानः।
ज्ञेयो रसः स रसनीयतयात्मशक्ते रत्यादिभूमनि पुर्नवितथा रसोक्तिः।[२५]

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के इतिहास में मम्मट की कृति 'काव्य-प्रकाश' को पूर्वोत्तरवर्ती सभी कृतियों में सर्वातिशयी होने का गौरव प्राप्त है। किसी नये सिद्धान्त के उद्भावक न होने पर भी मम्मट का आचार्यत्व इसलिए अद्वितीय माना जाता है कि इन्होंने काव्यशास्त्रीय तत्त्वों और सिद्धान्तों का जो प्रामाणिक विवेचन अपने ग्रन्थ में कर दिया वह अन्यत्र दुर्लभ है। आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ के चतुर्थ उल्लास के आरम्भ में ही रसों के नाम का परिगणन करते हुए नाट्य में इनकी संख्या के आठ होने का निर्धारण भी किया है---

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥[२६]

काव्य प्रकाश के टीकाकारों ने कारिका में प्रयुक्त 'अष्टौ' पद की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। यहाँ 'अष्टौ' को अवधारणात्मक पद मानकर उसका अर्थ 'अष्टौ एव' अर्थात् 'केवल आठ ही' किया है। जिससे ज्ञात होता है कि रुद्रट एवं भोज प्रभृति आचार्यों ने जिन प्रेयांस आदि का रस के रूप में निरूपण किया था उनको मम्मट ने भावों में ही स्थान दिया। इस प्रकार लौल्य, भक्ति एवं कार्पण्य जिनके स्थायी भाव क्रमशः अभिलाष, श्रद्धा एवं स्पृहा हैं, रस कहे जाने से वञ्चित हो गये। क्योंकि तीनों का अन्तर्भाव भावों में ही स्वीकृत हो गया। यहाँ कारिका में प्रयुक्त 'अष्टौ' और 'नाट्ये' पदों को कुछ टीकाकार उपलक्षण मात्र मानते हैं। अतः स्वयं ग्रन्थकार ने 'शान्त' को नवम रस के रूप में स्वीकार किया है। जिसका स्थायीभाव 'निर्वेद' माना है—

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।[२७]

मम्मट के उक्त विवेचन में पूर्वाचार्यों के द्वारा कृत रसों की संख्या विषयक विधान का यथोचित रूप में व्यवस्थापन ही है। अपना स्वयं का विशेष

---

२५. शृङ्गारप्रकाश, पृ० ४२६
२६. काव्यप्रकाश ४।२६
२१. वही ४।३५

मत नहीं। क्योंकि भरत ने नाट्यशास्त्र में रसों के आठ होने का ही विधान किया था। अनन्तर भट्टोद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन एवं अभिनव गुप्त ने शांत के भी रस होने का विधान एवं समर्थन किया। जिनके पक्ष एवं विपक्ष में धनञ्जय एवं भोज प्रभृति आचार्यों ने भी अपने मत व्यक्त किये थे। आचार्य मम्मट ने सभी पक्षों का सम्यक् रूप से अवगाहन कर अपनी स्पष्ट व्यवस्था दी कि नाट्य में तो आठ ही रस सम्भावित है पर श्रव्यकाव्य में उन आठों के अतिरिक्त नवम 'शान्त' के भी रस के रूप में निरूपित होने की बात प्रमाण पुष्ट ही है जिसका निराकरण नहीं किया जा सकता। मम्मट के द्वारा प्रदत्त इस व्यवस्था से भरत से आ रही परम्परा का परिपालन भी हो जाता है। तथा जिस किसी के द्वारा प्रकटित मान्यता का निराकरण भी।

मम्मट की उपर्युक्त उक्ति का साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में स्वागत तो हुआ ही, विरोध भी हुआ। संगीतरत्नाकरकार शार्ङ्गदेव ने भी अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा कि नाट्य में आठ ही रसों के होने की जो व्यवस्था दी गई है वह समुचित न होने से ग्राह्य नहीं हैं। उनका अभिप्राय यह है कि नवम रस 'शान्त' को यह कहकर नाट्य से बहिर्भूत रखा जाता है कि उसके स्थायी भाव निर्वेद तथा उसके विभावादि का अभिनय संभव नहीं। किन्तु यह उक्ति तभी सटीक होती जब अभिनेता को भी रस का आस्वाद होता। वह तो वस्तुतः उन भावों से अभिभूत हुए बिना ही उनका अभिनयात्मक प्रदर्शन करता है—

अष्टावेवरसा नाट्येष्विति केचिद्चुदन्।
तदचोद्यं यतः किञ्चिन्न रसं स्वदते नटः ॥[२८]

मम्मट की उक्त व्यवस्था से भक्तिरस वादियों का क्षुब्ध होना भी अत्यन्त स्वाभाविक ही था। क्योंकि भरत की व्यवस्था के व्याज से निखिल भक्त जनों के हृदय में निरंतर विद्यमान भगवद् विषयक रतिभाव को रस की पदवी प्रदान करने से वंचित रखना उन्हें सह्य नहीं था। मम्मट की व्यवस्था के अनुसार कान्ता-विषयक-रति की तो शृङ्गार रस के रूप में परिणति सुतरां स्वीकार्य थी। पर भगवद्-विषयक-रति को मैत्री, वात्सल्य एवं आबन्ध के समान भाव का ही स्थान दिया गया था।

भक्ति को रस का स्थान दिलाने का आन्दोलन साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में बहुत पुराना नहीं है तथापि निश्चित रूप से शान्त रस की उद्भावना के बहुत बाद का है। श्रीमद्भागवतपुराण के प्रचार के साथ-साथ दक्षिण से

२८. संगीतरत्नाकर ७।१३७१

भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात हुआ जिसका चरमोत्कर्ष बंगाल में चैतन्य महाप्रभु के भक्ति आन्दोलन ने ग्रहण किया। फलतः वैष्णव भक्ति के प्रचार एवं प्रसार के साथ-साथ भक्ति परक विपुल साहित्य की सृष्टि अन्य भारतीय भाषाओं की तरह संस्कृत में भी हुई। चैतन्य महाप्रभु के पट्ट शिष्य एवं प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामी ने अपनी कृतियों 'भक्तिरसामृतसिन्धु' एवं 'उज्ज्वलनीलमणि' में भक्तिरस का विस्तार-पूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया। इनके अनुसार निखिल भक्त जनों के हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान भगवद् विषयक मधुर रति भाव ही विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभावों से परिपुष्ट होकर जब अनुभव का विषय होने लगता है तो उसे भक्ति रस कहते हैं। वह यद्यपि परमानन्द स्वरूप होने से स्वयं प्रकाश तथा अखण्ड होता है तथापि रति भाव के अनुसार वह मुख्य एवं गौण दो प्रकार का हो जाता है। रूप गोस्वामी ने शान्त, प्रीति, प्रेयान्, वत्सल एवं मधुर नामक पांच मुख्य तथा हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक एवं बीभत्स नामक सात गौण रसों के होने का विधान किया है। इस प्रकार इनके मत से मुख्य और गौण मिलाकर रसों की कुल संख्या बारह हो जाती है—

एवं भक्तिरसो भेदाद् द्वयोर्द्वादशधोच्यते।[२९]

रूपगोस्वामी ने रसों की उक्त संख्या के पीछे निहित सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि सभी प्रकार के भक्ति-रसों का आस्वाद पांच रूप में ही सम्भव होता है। ये हैं पूर्ति, विकास, विस्तार, विक्षेप तथा क्षोभ। शान्त में पूर्ति, प्रीति, प्रेयान्, वात्सल्य, मधुर; हास्य में प्रीति; वीर तथा अद्भुत में विस्तार; करुण तथा रौद्र में विक्षेप एवं भयानक और बीभत्स में क्षोभ होता है। ये वस्तुतः चित्त की अवस्थाएँ हैं। भक्तिरसामृतसिन्धु के इस निरूपण पर दशरूपक के विवेचन का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इन अवस्थाओं के निरूपण से वस्तुतः रसों का वर्गीकरण ही साधित होता है संख्या का अवधारण नहीं। रूपगोस्वामी द्वारा निरूपित मुख्य एवं गौण उभयविध बारह रसों के सिद्धान्त की विशेषता इस बात में है कि शृङ्गार को छोड़कर शेष सात रसों को यहाँ गौण रस कहा गया है। शृङ्गार का नामतः उल्लेख न होने पर भी उसके स्थायी भाव रति के ही रसरूप में परिणत होने का विधान हुआ है और इस प्रकार यहाँ रति के माध्यम से से शान्त, प्रीति, प्रेयान् तथा वत्सल भावों का ग्रहण कर उन्हें रस की संज्ञा दे दी गई है। ग्रन्थकार की स्वयं की उक्ति है कि उक्त पाँचों मुख्य रसों में

२९. भक्तिरसामृतसिन्धु ८।५।८९

एक ही रति के होने से वस्तुतः मुख्य रूप से भक्ति रस एक ही होता है—

पञ्चधापि रतेरैक्यान्मुख्यस्वेक इहोदितः ।[३०]

रसों की संख्या के विषय में रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ ने यद्यपि कोई नई बात नहीं कही है तथापि उनके विवेचनों से इस सम्बन्ध में कुछ विलक्षण तथ्य प्रकाश में आते हैं। सामान्यतया उन्होंने शान्त को भी रस स्वीकार करते हुए नौ रसों के सिद्धान्त में ही अपनी आस्था व्यक्त की है। भक्ति को रस न स्वीकार करते हुये भी रसों की नौ संख्या के सिद्धान्त को वे केवल परम्परा का पालन मात्र मानते हैं—'रसानां नवत्वगणना च मुनिवचन नियन्त्रिता भज्येत इति यथाशास्त्रमेव ज्यायः' ।[३१]

रसों की कुल संख्या के विषय में भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर पंडितराज जगन्नाथ की कृति रसगंगाधर तक के लगभग दो सहस्र वर्षों तक विकसित साहित्य-शास्त्र के इतिहास में उपलभ्यमान सामग्री का यही निर्गलित है जिसमें इदमित्थं रूप से यही कहा जा सकता है कि भरत ने इस सम्बन्ध में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन अपनी कृति नाट्य शास्त्र में किया था उसका आज के सन्दर्भ में भी कम महत्त्व नहीं है। महामहोपाध्याय पी० वी० काणे ने प्रसिद्ध पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल के द्वारा उद्भावित मूलप्रवृत्तियों (इन्स्टिंक्ट्स) के सिद्धान्त के अनुसार स्थायिभावों और रसों का विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। किन्तु मैक्डूगल के मूलप्रवृत्तियों के सिद्धान्त का अन्य वैज्ञानिकों द्वारा सर्वथा निरसन कर देने से वह विवेचन भी अब प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। भरत के चार मूल रसों के सिद्धान्त के पीछे मूलतः चार प्रकार की चित्तवृत्तियों के होने की बात की परीक्षा आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर होनी आवश्यक है तभी भावों के स्थायी और व्यभिचारी होने का सिद्धान्त टिक सकेगा। यह कार्य एक स्वतन्त्र शोध का विषय है। यहाँ हमारा उद्देश्य संस्कृत की साहित्यशास्त्रीय कृतियों में उपलभ्यमान तथ्यों का अनुसंधानात्मक विवेचन उपस्थापित करना ही रहा है।

---

३०. भक्तिरसामृतसिन्धु २।५।९५

३१. रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृष्ठ १७६ (चौ०)

७
रसराज

(क) वीर रस ही रसों में राजा

रस क्या वस्तु है ? इसका उत्तर देते हुए नाट्यशास्त्र में कहा है कि ग्रास्वाद ही रस है। ग्रथवा इसे 'रस' इसलिए कहते हैं कि वह ग्रास्वाद्य है **'रस्यते ग्रास्वाद्यते इति रसः'**। यह ग्रास्वाद दो प्रकार का होता है वाह्य विषयों का एवं ग्राभ्यंतर। बाह्य विषयों का ग्रास्वाद इन्द्रियों के द्वारा ही सम्भव है जबकि रसानुभूति मानस प्रत्यक्ष का विषय है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रसानुभूति मानस प्रत्यक्ष का ही एक प्रकार है। इस ग्रनुभूति के विषय व्यक्ति के ग्रपने ही रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, विस्मय तथा जुगुप्सा नामक मनोभाव हैं जो उसके ग्रन्तःकरण में स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं। नाट्यशास्त्र ने इसी बात को स्पष्ट रूप से कहा है कि सहृदय सामाजिक के मन में स्थायी रूप से ग्रवस्थित रत्यादि भाव ही जब विभावादि भावों से संयुक्त होकर मानस प्रत्यक्ष के माध्यम से स्वयं के ग्रास्वाद का विषय होने लगते हैं तो शृङ्गारादि रस कहे जाते हैं—

नानाभिनयसम्बद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
ग्रास्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ॥[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के ग्रपने ही मनोभावों का ग्रनुभव रस है। काव्य एवं नाट्य के वर्णनों तथा दृश्यों से उन भावों का जब उद्रेक होता है तब वह ग्रपने ही ग्रनुभव का विषय होने लगते हैं। ग्राचार्य धनंजय इसी बात को समझाते हुए ग्रपने दशरूपक में कहते हैं कि छोटे बच्चे मिट्टी के हाथी-घोड़े ग्रादि खिलौनों से जब खेलते होते हैं तो यह जानते हुए भी कि ये ग्रसली घोड़े-हाथी नहीं हैं, वह भूल जाते हैं ग्रौर उनसे ग्रसली हाथी-घोड़ों के व्यवहार का सा ग्रानन्द उन्हें मिलता है। उसका रहस्य यह है कि उस समय उन्हें ग्रपने ही उत्साह का ग्रनुभव होने लगता है। ठीक यही स्थिति सामाजिक की होती है जिसे ग्रर्जुन ग्रादि के द्वारा उद्भावित होकर

१. नाट्यशास्त्र ६।३३

अपने ही उत्साह का अनुभव होने लगता है। उसे ही रस कहते हैं—

क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः।
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतॄणामर्जुनादिभिः॥[२]

इस प्रसंग में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि लोक में विषय-विशेष के सम्पर्क से उत्पन्न रत्यादि भावों से यथावसर कहीं सुख, कहीं दुःख तो कहीं मोह की अनुभूति होती है। किन्तु काव्य के द्वारा जब उनकी उद्भावना होती है तो इनकी अनुभूति एकमात्र आनन्दात्मक होती है, सुखात्मक, दुःखात्मक या मोहात्मक नहीं। इसका कारण यह है कि लोक में विषयों की साक्षात् उपस्थिति होती है, काव्य में वे केवल संस्कार के रूप में ही विद्यमान रहते हैं और उनकी अनुभूति सात्त्विक मन से ही सम्पन्न होती है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि रसानुभूति मानस-प्रत्यक्ष का विषय है। दूसरे शब्दों में हम इसे अपनी ही मनोविकार की अवस्था का स्वयं का अनुभव कहेंगे। जब भी कोई बाहरी विषय इन्द्रियों के सन्निकर्ष में आता है तो वह मन को प्रभावित किये बिना नहीं रहता। इसी प्रकार इनका दृश्य या श्रव्य रूप में निरूपण भी हमारे मन को प्रभावित करता है। चित्त में जब विकार उत्पन्न होते हैं तो उसकी चार अवस्थाएँ होती हैं, विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप। मुदिता की भावना का उदय ही चित्त की विकासावस्था है। हम जो प्रसन्न होते हैं वही हमारे मन का विकास है। इसकी अनुभूति हमें शृङ्गार और हास्य में होती है। या इसे हम यों भी कह सकते हैं कि शृंगार एवं हास्य की अनुभूति के समय एक विशेष प्रकार की जिस प्रसन्नता से हम पुलकित हो उठते हैं वह चित्त के विकास से ही होती है। चित्त के विस्तार से हमारी बुद्धि में मैत्री की भावना का उदय होता है। मैत्री की भावना का उदय होना चित्त के विस्तार का लक्षण है। इसका अनुभव उत्साह तथा आश्चर्य के रूप में होता है। वीर और अद्भुत रस का आस्वाद इसका ही परिणाम है। करुणा की भावना का उदय ही चित्त की क्षुब्ध अवस्था का परिचायक है। क्रोध एवं शोक चित्त की इस क्षुब्ध अवस्था के द्योतक हैं जिनका परिपाक रौद्र एवं करुण रसों में होता है। चित्त की विक्षिप्त अवस्था उपेक्षा की भावना को जन्म देती है। जुगुप्सा (घृणा) और भय के रूप में इसकी प्रतिक्रिया होती है जिसके परिणाम बीभत्स एवं भयानक रस हैं। अतएव नाट्यशास्त्र में शृंगार, वीर, बीभत्स एवं रौद्र चार को ही

२. दशरूपक ४।३१

मूल रस कहा है जो क्रमशः चित्त की विकास, विस्तार, क्षोभ एवं विक्षेप नामक अवस्थाओं के अनुभव हैं। शेष चार रस इन्हीं से उत्पन्न हुए हैं—

श्रृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणोरसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥[3]

इस प्रकार रसास्वाद से जिस आनन्द की अनुभूति होती है उसमें भी जो अवान्तर भेद होते हैं उनका आधार चित्त की ये विविध दशायें ही हैं। आचार्यों ने चित्त की इन दशाओं को विकास, विस्तार, क्षोभ एवं विक्षेप इन चार में ही सीमित बताया है। आश्चर्य यह है इनका सामंजस्य योग दर्शन में प्रतिपादित चित्त की मैत्री, मुदिता, करुणा एवं उपेक्षा नामक वृत्तियों से सर्वथा सटीक बैठता है जो उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है। यह विवेचन हमने इसलिए किया है कि वीर रस से होने वाले आनन्दानुभव को हम अन्यों से पृथक् रूप में समझने में समर्थ हो सकें जिसका विवेचन हमें आगे करना है।

हमने यह देखा कि वीर रस में चित्त का विस्तार होता है। विस्तार का सम्बन्ध देश या स्थान से है। अतः चित्त के विस्तार का अभिप्राय यह हुआ कि उस समय चित्त व्यक्ति के अंग प्रत्यंग में व्याप्त हो जाता है। यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि काव्य या नाट्य के प्रसंग में चित्त में सत्त्वगुण की बहुलता होती है। रजस् एवं तमस् दब जाते हैं। अतः अंग प्रत्यंग में इस सत्त्वगुण बहुल चित्त का ही विस्तार होता है। जिसका परिणाम यह होता है कि विचारों के साथ-साथ आचार या क्रियाकलाप में भी सात्त्विकता आ जाती है। हम जो सोचते हैं उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिये हमारे अंग-प्रत्यंग क्रियाशील हो उठते हैं। इसे ही मैत्री भी भावना कहते हैं। इस के जाग्रत होने का सम्बन्ध उत्साह एवं आश्चर्य से है। जिसमें उत्साह या आश्चर्य का आधिक्य है वही हमारे आकर्षण का विषय होता है? इसका रहस्य यही है कि उसके द्वारा हमारे चित्त का विस्तार होता है जो उसके प्रति मैत्री की भावना का परिपोष करता है।

भरत मुनि ने वीररस को उत्साहात्मक कहा है। उत्साह को वह उत्तम लोगों की प्रकृति कहते हैं। उनका कहना है कि जिन लोगों की प्रकृति उत्तम होती है उनमें स्वभावतः ही उत्साह रहता है। यह उत्साह ही वीर रस का स्थायी भाव है। असंमोह, अध्यवसाय, नय, विनय, बल, पराक्रम, शक्ति,

---

३. नाट्यशास्त्र ६।३९

प्रताप और प्रभाव इसके विभाव हैं। असद्-विषय की ओर प्रवृत्ति को संमोह कहते हैं उसका अभाव असंमोह है। अध्यवसाय बुद्धि की निश्चयात्मक वृत्ति का नाम है। नय नीति को तथा विनय जितेन्द्रियता को कहते हैं। शेष स्पष्ट हैं। स्थिरता, धैर्य, शौर्य, त्याग तथा विशारदता यह वीर के अनुभाव अर्थात् कार्य हैं। धृति, मति, गर्व, आवेग, यथवासर उग्रता, अमर्ष, स्मृति तथा रोमांच ये वीर के सहाकारी या व्यभिचारी भाव हैं। कविराज विश्वनाथ ने वीर रस का निरूपण करते हुए कहा है कि उत्तम प्रकृति को वीर कहते हैं जिसका स्थायी भाव उत्साह होता है। महेन्द्र इसके देवता हैं तथा इसका रंग सुवर्ण के सदृश है। जिनके ऊपर विजयप्राप्त करनी है वह इसके आलम्बन विभाव होते हैं। उन आलम्बनों की चेष्टायें उद्दीपन विभाव हैं जो इसके स्थायी भाव उत्साह को उद्दीपित कर रस की पदवी प्राप्त कराने में हेतु का काम करती हैं। सहायकों का अन्वेषण आदि क्रियायें जो आश्रय में होती हैं तथा धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क एवं रोमांच प्रभृति भाव संचारी होते हैं जो प्रेक्षक या पाठक के मन में स्थायी रूप से अवस्थित उत्साह को अभिव्यंजित करने में सहायता करते हैं।

वीर रस का आश्रय धीरोदात्त कोटि का नायक ही होता है। उसके लक्षण का निरूपण करते हुए आचार्य धनंजय कहते हैं कि धीरोदात्त कोटि का नायक महासत्त्व होता है। जिसका अभिप्राय यह है कि उसका अन्तः करण क्रोध, शोक आदि विकारों से अभिभूत नहीं होता। वह अति गम्भीर होता है। स्वभावतः वह क्षमाशील होता है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह विकत्थन अर्थात् आत्मश्लाषा करने वाला नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं कि उसमें स्वाभिमान नहीं होता अपितु अवश्य होता है। किन्तु वह विनय से आच्छन्न रहता है। धीरोदात्त कोटि के व्यक्ति की एक और विशेषता यह है कि वह दृढ़व्रत होता है। जिस बात का व्रत लेता है उसका निर्वाह अन्त तक करना जानता है। अतएव उसका मन साधारण व्यक्तियों के समान अस्थिर नहीं होता—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरो क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः।[४]

इस प्रसङ्ग में एक बात विशेष रूप से जान लेनी चाहिए कि वीरता का सम्बन्ध संग्राम मात्र से नहीं होता अपितु वह बहुत व्यापक है। धीरोदात्त में प्रयुक्त उदात्त पद उसी वीरता का बोधक है। इस वीरता या उदात्तता को केवल

४. दशरूपक २।४

युद्ध क्षेत्र में संकीर्ण नहीं समझना चाहिए अपितु दया, दान, दाक्षिण्य एवं शौर्य प्रभृति आत्मीय सभी गुणों से उसका सम्बन्ध है। इन सभी गुणों के क्षेत्र में जो सर्वोत्कृष्ट हैं वे सभी उदात्त अर्थात् वीर हैं न कि केवल वह जो युद्ध में शत्रु को पराजित कर अपनी वीरता प्रतिष्ठापित करते हैं। इसका रहस्य यही है कि आत्मीय इन सभी गुणों के आविर्भाव होने पर चित्त के विस्तार की ही क्रिया सम्पन्न होती है और उत्साह नामक भाव का संचार सर्वत्र अनुभूयमान होता है। यही कारण है कि नागानन्द नाटक के नायक जीमूतवाहन की उक्ति पाठक या प्रेक्षक में उत्साह का ही संचार करती है करुण का नहीं—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्ति न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन्॥[५]

(हे गरुड़, मेरी नसों की छोरों से अभी खून वह ही रहा है, मेरे शरीर में अभी भीं मांस पर्याप्त मात्रा में शेष है, आप भी अभी अघाये नहीं दीखते, फिर क्या कारण है कि आप खाने से विरत हो गये हैं।)

एक दूसरा उदाहरण है। राम के राज्यभिषेक की तैयारी हो चुकी है। ऐन मौके पर राम को बुलाया जाता है और चौदह बर्ष के बनवास का क्रूर आदेश दे दिया जाता है। नगर एवं जनपद में हाहाकार मच जाता है। किन्तु राम उसी प्रकार मुस्कुरा रहे हैं जैसे पहले। उनके मन पर इन घटनाओं की विकृत प्रतिक्रिया लेशमात्र भी परिलक्षित नहीं होती। यह उदात्तता नहीं तो और क्या हैं ? यही सच्ची वीरता है और यही महासत्त्व का आदर्श है। शत्रु के ऊपर विजय की प्राप्ति तो अधम प्रकृति के व्यक्ति भी कर सकते हैं किन्तु उक्त प्रकार की वीरता केवल उत्तम प्रकृति के लिये ही सम्भव है। यही कारण है कि कालिदास प्रभृति महाकवि अपने काव्यों के नायकों में इन आत्मीय गुणों का विकास दिखाने से नहीं चूके हैं। 'शाकुन्तल' का नायक दुष्यन्त यथा नाम तथा गुण दुष्टों का अन्तकारी तो है ही जिसकी प्रत्यंचा की टङ्कार से ही आश्रम के विघ्नकारी राक्षस भाग जाते हैं और अकेले ही वह समुद्रान्त पृथ्वी का शासन करता है। यहाँ तक कि देवताओं को भी उसकी सहायता अपेक्षित होती है। किन्तु उसके लिये जब कहा जाता है—

---

५. नागानन्द ५।१६

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवं विधैव ।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छाययोपाश्रितानाम् ॥[६]

तभी उसकी प्रकृति की उत्तमता की वास्तविक अनुभूति होती है। उसकी उदात्तता का निष्कृष्ट लक्षण यहीं प्रकट होता है जिससे पाठक या प्रेक्षक में भी शुद्ध सात्त्विक उत्साह का संचार हुए बिना नहीं रहता। अतएव संस्कृत साहित्य में न केवल राम, कृष्ण, अर्जुन तथा चन्द्रगुप्त प्रभृति विजेता ही धीरोदात्त की कोटि में रखे गये अपितु बुद्ध, महावीर, जीमूतवाहन, दधीचि, कर्ण एवं परशुराम प्रभृति को भी किसी न किसी आत्मीय गुण में सर्वातिशायी होने से वीरों की ही कोटि में रखा गया है। वीरों के भेद भी कई प्रकार से किये गये है—दानवीर, धर्मवीर, दयावीर तथा युद्धवीर आदि ।

दानवीरों की श्रेणी में परशुराम का नाम सर्वाग्रगण्य है। उनका त्याग एक विलक्षण प्रकार का ही है। सामान्य व्यक्ति जिस ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये लालायित रहते हैं, तथा बड़े-बड़े वीर भी जिस राज्य के लोभ से विजय प्राप्त करते हैं, परशुराम ने अनेक बार सारी पृथ्वी को जीतकर उसी राजकीय ऐश्वर्य को लात मार दिया और राज्य को बिना किसी स्वार्थ के दूसरों को दान कर दिया। यह उनकी दानवीरता का आदर्श है। धर्मवीर के लिये युधिष्ठिर का नाम सर्वोत्तम है जो धर्म के लिये राज्य, धन, शरीर, पत्नी, पुत्रादि बन्धुबान्धव किंवा अपना सर्वस्व तक छोड़ने को सदा तत्पर रहते थे—

राज्यं च वसु देहश्च भार्या भ्रातृसुताश्च ये।
यच्च लोके ममायत्तं तद्धर्माय सदोद्यतम् ॥[७]

युद्धवीर के ज्वलन्त आदर्श भगवान् राम स्वयं हैं तथा दयावीर के लिये जीमूतवाहन का आदर्श परम श्लाघनीय है जिन्होंने एक साधारण नाग के बदले अपने को ही आहार के रूप में गरुड़ को सौंप दिया था ।

वीररस की परिधि केवल दया, धर्म, दान एवं युद्ध तक ही व्यापक नहीं हैं अपितु विशेष विश्लेषण करने पर शृंङ्गारादि सभी रसों को अपने बृहत्तर दायरे में अन्तर्हित करने की क्षमता भी इसमें है।

संस्कृत अलंकारशास्त्र के आचर्यमूर्धन्य श्री अभिनवगुप्त कृत नाट्यशास्त्र की टीका 'अभिनवभारती' से भी इस तथ्य की पुष्टि सुतरां होती है कि एक-

६. अभिज्ञानशाकुन्तल ५।७
७. महाभारत

मात्र वीर रस में ही सभी रसों को उत्पन्न करने की क्षमता है। उनका कहना है कि महापुरुष में भी उत्साह का संचार जगत के ही किसी न किसी फल के अभिसंधान से होता है। अतः वीररस वही है जिसकी प्रवृत्ति किसी भी अन्य रस के फल के अभिसन्धान से होती है—

यस्तु रसो रसान्तरं फलत्वेनाभिसन्धाय प्रवर्तते तस्योदाहरणं वीरः ॥[८]

कहने का आशय यह है कि वीररस का स्थायी भाव उत्साह एकमात्र उत्तम व्यक्ति की ही प्रकृति में होता है। जिसकी चरम परिणति महापुरुष के व्यक्तित्व में पायी जाती है। महापुरुष में भी उत्साह का संचार किसी न किसी लौकिक फल को लक्षित करके ही होता है। वह फल आलम्बन भेद से विविध प्रकार का हो सकता है। कभी कभी तो एक व्यक्ति के उत्साह के परिपोष के प्रति अनेक व्यक्तियों में नाना प्रकार की प्रतिक्रियायें होती पायी जाती हैं। तुलसीदास ने रामचरितमानस में बड़ी ही निपुणता से इसका निरूपण किया है। राम मंच पर पहुँच गये हैं और शिव के धनुष को भङ्ग करना चाहते हैं—

उदित उदय गिरि मंच पर, रघुवर बाल पतंग।
विकसे संत सरोज बन, हरषे लोचन भृंग ॥

चाप समीप राम जब आये। नरनारिन्ह सब सुकृत मनाये ॥
सबकर संसय अरु अज्ञानू। मंदमहीपन्ह कर अभिमानू ॥
भृगुपति केरि गरब गरुआई। सुर मुनिवरन्ह केरि कदराई ॥
सियकर सोचु जनक पछतावा। रानिन्ह कर दारुन दुखपावा ॥
संभुचाप बड़ बोहितु पाई। चढ़े जाइ सब संग बनाई ॥
रामबाहुबल सिन्धु अपारू। चहत पार नहिं कोउ कड़हारू ॥[९]

यहाँ पर इन सभी प्रकार की प्रतिक्रियाओं के आलम्बन अलग-अलग अनेक हैं किन्तु आश्रय राम का उत्साह (रामबहुबल) एक ही है। धनुष के भंग हो जाने पर राम की वीरता की प्रतिक्रिया जन-सामान्य में विस्मय, सीता में रति, अन्य राजाओं में भय एवं जुगुप्सा (आत्म-निन्दा), परशुराम में क्रोध, जनक एवं उनकी रानियों में कारुण्य तथा विश्वामित्र में हास नामक स्थायि-भावों के संचार के रूप में हुई। इन सबका आश्रय राम की वीरता ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वीररस ही सभी रसों के केन्द्र में स्थित है और अन्य रस साक्षात् या परम्परया उससे ही समुत्पन्न होते हैं। यही कारण है कि

---

८. नाट्यशास्त्र, अभिनव भारती, प्रथमभाग पृ० २९७
९. रामचरितमानस बालकाण्ड

शृंगाररस-प्रधान नाटकों एवं काव्यों के नायक भी प्रायः धीरोदात्त या दूसरे शब्दों में वीर ही होते हैं।

यहाँ एक सवाल का उठना स्वाभाविक है कि जब वीर रस से सभी रसों की उत्पत्ति संभव है तो नाटचशास्त्र में वीर से केवल अद्भुत की ही उत्पत्ति का विधान क्यों हुआ है? इसका उत्तर अभिनवगुप्त ने ही दिया है—वीरस्य सम्यक् निकटं यत्फलं सोद्भुतः...। शृङ्गारोऽपि वीरस्य अनन्तरं फलम्।... चूंकि वीर की सबसे पहली प्रतिक्रिया आश्चर्य की सृष्टि है और वह सब में होती है। अनन्तर ही रति, हास आदि अन्यभाव अतः अत्यन्त निकट होने के कारण वीर से अद्भुत की उत्पत्ति साक्षात् मानी गई है। अन्य शृंगार आदि का वीर से परम्परया सम्बन्ध है साक्षात् नहीं।

इस समूचे विवेचन का सारांश यह है कि वीररस सभी रसों में इस लिए सर्वोत्तम है कि उसका क्षेत्र अत्यन्त ही व्यापक है तथा उसके स्थायीभाव उत्साह की परिणति जनसामान्य में भी सरलतापूर्वक हो जाती है। व्यक्ति का उत्साह ही हर प्रकार के आकर्षण का केन्द्र है। उसका परिपाक सर्वतोमुखी एवं सर्वाभिव्याप्त है। अतः उसे ही 'रसराज' की उपाधि का गौरव प्राप्त होना चाहिये न कि शृंगार को। नाटचशास्त्र ने अवश्य वीर को अन्य रसों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है और उसे गौर वर्ण का बताया है तथा देवराज महेन्द्र को वीर का देवता कहा है।[१०]

(ख) रसराज शृङ्गार

रसों में शृङ्गार की प्रधानता का विज्ञापक शृंगार शब्द स्वयं है जो शृंग (सींग) से व्युत्पन्न होता है—शृङ्गम् ऋच्छति प्राप्नोतीति शृङ्गारः। जो सींग की स्थिति को प्राप्त करे वही शृंङ्गार है। सींग की स्थिति को प्राप्त करना उसका अन्य रसों में मूर्धन्य होना है। यद्यपि ऐसा विधान कहीं उपलब्ध नहीं होता परन्तु भरत के द्वारा अपनी कृति नाटचशास्त्र के रस प्रकरण षष्ठ अध्याय में रस के निरूपण का आरम्भ शृङ्गार से ही किया गया है। रसों के परिगणन एवं लक्षण के निरूपण के प्रसङ्ग में शृङ्गार को ही प्रथम जो रखा गया इसके औचित्य का प्रतिपादन करते हुए अभिनव गुप्त कहते हैं कि काम अर्थात् अभिलाष का फल होने तथा सभी लोगों के हृदय का मिलान कराने की क्षमता होने से अन्य रसों की अपेक्षा शृङ्गार की प्रधानता स्वतः सिद्ध है—तत्र कामस्यफलत्वादशेष-

---

१०. नाटचशास्त्र, षष्ठअध्याय।

हृदयसंवादित्वाच्च तत्प्रधानं शृङ्गारं लक्षयति[११]। नाटचशास्त्र में ही विष्णु को शृङ्गार का अधिष्ठातृ देवता माना गया है। देवताओं में विष्णु के स्थान के अनुसार ही यदि हम रसों में शृङ्गार के स्थान का निर्धारण करें तो उसे ही रसराज अर्थात् सर्वातिशायी रस कहना पड़ेगा।

आचार्य अभिनवगुप्त ने शृङ्गार को 'सकलहृदयसंवादी' कहकर इस की व्यापकता की ओर इङ्गित किया है। सामान्यतया लोगों का मन परस्पर मिलता नहीं। कहा भी है—भिन्नरुचिर्हि लोक। किन्तु शृङ्गार एक ऐसा बिन्दु है जिस पर सभी के मन का मिलान सहज भाव से हो जाता है।

भरत नाटचशास्त्र में शृङ्गार के विषय में एक बहुत ही उत्कृष्ट वाक्य का प्रयोग हुआ है—'यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते।'[१२] लोके में जो कुछ भी पवित्र, उज्ज्वल अथवा दर्शनीय है उस सबका उपमान शृङ्गार है। उपमानोपमेय भाव के विषय में हम जानते हैं कि जो अधिक गुणशाली होता है वही उपमान कहलाता है। शुचिता और दर्शनीयता के विषय में शृङ्गार का उपमान होना रसों में उसकी सर्वातिशायी प्रतिष्ठा का परिचायक है।

कालिदास की कविता ने शृङ्गार की शुचिता का जो साक्षात् निदर्शन उपस्थित कर दिया उससे साहित्य के क्षेत्र में शृङ्गार की महत्ता बहुत बढ़ गई।[१३] और इसके अनन्तर तो एक समय ऐसा आया जब शृङ्गार ही काव्य का पर्याय हो गया। बाण भट्ट ने अपनी अतिद्वयी कथा रूपी काव्य-रचना को अभिनवा बधू से उपमानित किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार नवोढ़ा को जब प्रियतम के सहवास का रस मिल जाता है तो वह उससे खिची हुयी स्वयं उसकी शय्या पर चली आती है, ठीक इसी प्रकार की उनकी कथात्मक कविता है।

रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव॥[१४]

रसों में शृङ्गार की सर्वातिशायिता की छाप दूसरी बार तब बड़ी जब संस्कृत की साहित्यिक समीक्षा के सर्वातिशायी आचार्य आनन्दवर्धन ने इसे

---

११. भरत नाटचशास्त्र; बड़ौदा, प्रथम भाग, अध्याय ६ पृ० ३००
१२. वही अध्याय ६ पृ० ३००
१३. शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी नु किम्।
१४. कादम्बरी, उपोद्घात श्लोक ८

ही मधुर कहते हुए परप्रह्लादनात्मक रस माना। क्योंकि इसमें प्रह्लादन अर्थात् आनन्दकारिता की क्षमता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई है—

शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।[१५]

आनन्दवर्धन को एक स्वर से आलंकारिक सरणि का व्यवस्थापक आचार्य माना गया है। उनका शृङ्गार को परः प्रह्लादन कहना अन्य रसों की अपेक्षा साहित्य में शृङ्गार की महनीय स्थिति का विधायक है। रस सभी प्रह्लादनात्मक अर्थात् आनन्ददायक ही होते हैं। पर शृङ्गार इस दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट है। क्योंकि उससे होने वाला प्रह्लादन अन्यो की अपेक्षा अधिक गहन तथा अधिक मार्मिक होता है। अन्य रसों की अपेक्षा शृंङ्गार की मधुरता का आधार उसका प्रह्लादन का हेतु होना है—

शृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादनहेतुत्वात्।

शृङ्गार की मधुरता उसकी आपामरतिर्यक् व्याप्ति है। अभिनवगुप्त ने परःप्रह्लादन पद की व्याख्या करते हुए कहा है कि रति ही शृङ्गार के रूप में अनुभूत होती है। रति की वासना अन्य सभी प्रकार की वासनाओं को अपने में अन्तर्हित कर लेती है। क्या देवता, क्या मनुष्य, यहाँ तक कि पशु पक्षी प्रभृति कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो रति की वासना का शिकार न हो। साधुसन्यासियों को भी इससे एक विलक्षण प्रकार के चमत्कार की अनुभूति होती है। प्रणिमात्र के हृदय का संवादकारी होने से ही शृङ्गार को मधुर कहा है—

रतौ हि समस्तदेवतिर्यङ्नरादिजातिष्वविच्छिन्नैव वासनाऽऽस्त इति न कश्चित्तत्रताद्दग्यो न सहृदयसंवादमयः। अतएव मधुर इत्युक्तम्।[१६]

जिस प्रकार मिठाई को देखकर सभी उसकी प्राप्ति के प्रति अभिलाषुक हो उठते हैं चाहे वे विवेकी हों या अविवेकी अथवा रोगी हों या स्वस्थ, ठीक इसी प्रकार की रति की भी वासना है जिसके जाग्रत हो जाने पर कोई भी ऐसा नहीं है जो अपने को उसकी प्राप्ति से रोक सके।

मधुरता की परिभापा भामह, दण्डी एवं वामन प्रभृति आलंकारिको ने अन्य प्रकार से ही की थी—

"श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते"[१७]

---

१५. ध्वन्यालोक २।७

१६. ध्वन्यालोक का० २।७ पर लोचन।

१७. काव्यालंकार २।३

की उक्ति के अनुसार मधुर उस शब्द को कहा गया है जो श्रव्य अर्थात् सुनने योग्य हो तथा जो बहुत बड़ा समस्तपद न हो । आनन्दवर्धन ने मधुरता की इस परिभाषा का निराकरण यह कह कर किया है कि समास रहित पदावली जन्य श्रव्यता सर्वरस सामान्य है क्योंकि ओजोगुण विशिष्ट रौद्र में भी श्रव्यता होती है । मधुरता तो केवल शृङ्गार का ही अपना विशेष गुण है जिससे वह सर्वातिशायी सिद्ध हो जाता है ।

शृङ्गार रस की सर्वातिशायिनी महत्ता का प्रतिपादन वास्तविक रूप में तो भोजराज ने ही किया है । इनकी बहुमूल्य कृति 'शृङ्गारप्रकाश' का नाम ही शृङ्गार परक है । यद्यपि इस ग्रन्थ में वाङ्मय की सभी विधाओं का निर्गलित है तथापि सभी प्रकार की साहित्यिक उपलब्धियों का शृङ्गार में ही समावेश कर उन सबके लिए शृङ्गार पद का यहाँ अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है । उनकी दृष्टि में शृङ्गार आत्मीय गुणों की सम्पदा के उत्कर्ष का वह निदान है जिसकी अभिव्यक्ति एक विशेष प्रकार की अभिलषित चेष्टाओं के माध्यम से होती है । यह व्यक्ति का अहंकार रूपी अपना ही एक विशेष प्रकार का गुण है जिससे सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार एवं बुद्धि नामक आत्मीय गुणों में अतिशय का आधान होता है । वही शृङ्गार जब सहृदयों की वासना का विषय होकर उनके अनुभव पथ पर अवतरित होने लगता है तो उसे रस कहते हैं । व्यक्ति में शृङ्गार की इसी वासना के विद्यमान रहने से उसे रसिक अन्यथा नीरस कहा जाता है ।[१८]

भोज का सिद्धान्त ही निराला है । उनका कहना है कि रत्यादि की अधिकता रस को जन्म नहीं देती अपितु उसे तो शृङ्गार के कारण ही रस पदवी प्राप्त होती है । रत्यादि का कितना हूँ गहन निरूपण काव्य में क्यों न हुआ हो जब तक शृङ्गार नहीं होता रस की अनुभूति नहीं हो सकती । रति, हास, शोक एवं क्रोध आदि भावों का पर्यवसान भोजराज प्रेम में ही मानते हैं । अतः प्रेम ही एक मात्र रस है ।[१९]

इस शृङ्गार की उत्पत्ति भोज रति नामक स्थायी भाव से नहीं मानते । भरत नाट्यशास्त्र में शृङ्गार को 'रतिस्थायिभावप्रभवः' कहा है जिस का अभिप्राय यह है कि शृङ्गार की उत्पत्ति रति नामक स्थायी भाव से होती है । भोज की मान्यता इससे सर्वथा विपरीत है । वे कहते हैं कि रति आदि

---

१८. शृङ्गारोहिनाम···नीरस इति । शृङ्गारप्रकाश ११

१९. रत्यादिप्रकर्षाणां प्रेमण्येव पर्यवसानात् रसमिह प्रेमाणमामनन्ति । वही पृष्ठ ५२९

सभी भावों का उद्भव श्रृङ्गार से ही होता है "वयं तुमन्यामहे रत्यादीनामयमेव प्रभव इति"[२०]

महाराज भोज का तर्क है कि रति आदि भावों का उद्बोध उसी को होता है जो श्रृङ्गारी है। रति, विस्मय, उत्साह एवं स्नेह से अप्लावित होने की योग्यता श्रृङ्गारी लोगों में ही होती है। अतः रति आदि तो श्रृङ्गार से ही भाव्यमान होने से भाव मात्र हैं न कि रस। वे मात्र भावना के विषय हैं, अनुभव के नहीं।

भोज ने धनञ्जय के सिद्धान्त का भी खण्डन किया है कि रति आदि भाव ही प्रकर्ष को प्राप्त कर रस पदवी को प्राप्त करते हैं। इन का कहना है कि कठोर श्रम से होने वाली ग्लानि आदि भाव भी प्रकर्षता को प्राप्त करते हैं। किन्तु वे रस नहीं कहे जाते। न ही उनकी गणना स्थायी भाव के रूप में की गई है। व्यक्तियों की प्रकृति सात्त्विक, राजस एवं तामसिक तीन प्रकार की होती है। उससे युक्त होने पर कोई भी भाव प्रकर्षता को प्राप्त कर सकता है। रति आदि ये भाव केवल बाहरी तत्त्व विभाव आदि से संवलित होने से ही रस पदवी को प्राप्त होने लगें तो प्रत्येक व्यक्ति रसिक हो जाय। किन्तु ऐसा होता नहीं। अपितु कोई रसिक होता है तो कोई नीरस भी। इसलिये यही मानना उपयुक्त है कि रसिकता व्यक्तिनिष्ठ होती है विषयनिष्ठ नहीं। व्यक्ति में स्वयं कुछ ऐसा विशेष निहित होता है कि उसमें रत्यादि भाव रसत्व को प्राप्त करने लगते हैं। व्यक्ति विशेष की यह योग्यता ही श्रृङ्गार है।

यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि भोज का श्रृङ्गार व्यक्ति की सहृदयता है जिसे आनन्द प्रभृति आचार्यों ने वासना के नाम से अभिहित किया है। पर भोज की दृष्टि कुछ और ही सूक्ष्म एवं गहन है। भरत ने श्रृङ्गार को उत्तम-युव प्रकृति कहा है। उत्तम कोटि के युवक एवं युवतियों का स्वभाव ही श्रृङ्गार में। भोज उसे और व्यापकरूप देना चाहते हैं। वे इसे स्त्री पुरुष हेतुक सम्बन्धों तक ही सीमित नहीं रखते अपितु सम्पूर्ण सौन्दर्य-भावना (एस्थेटिक सेन्स) को ही वह श्रृङ्गार कहने के पक्ष में हैं। वस्तुतः तभी उसे शुचिता, मेध्यता एवं दर्शनीयता का उपमान कहा जा सकता है। फिर श्रृङ्गार के इस व्यापक रूप को मात्र रतिप्रभव कैसे कहा जा सकता है? भोज ने भरत के इसी अन्तर्विरोध का समाधान प्रस्तुत किया है कि रति आदि सभी भाव श्रृङ्गारी में उत्पन्न होते हैं। फलतः श्रृङ्गार इन सभी का प्रभव अर्थात् मूल-

२०. श्रृङ्गारप्रकाश ११, पृ० ४३० (मैसूर)

स्रोत है। व्यक्ति की प्रकृति में व्यापक स्वरूप वाले इस शृङ्गार के विद्यमान होने पर ही रति, उत्साह, क्रोध एवं शोक आदि भाव रस पदवी को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं अन्यथा नहीं। इसी आधार पर भोज की यह उक्ति हृदयङ्गम हो सकती है कि रति आदि ये सभी भाव हैं रस तो एक मात्र शृङ्गार ही है।[२१]

वह शृङ्गार ही रति आदि स्थायिभावों के द्वारा अपने अपने विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभावों से प्रकाशित होकर विविध रसों के रूप में आस्वादित होता है 'तैश्च स्वस्वविभावानुभावैः प्रकाशमानः शृङ्गारो विशेषतः स्वदते।"[२२]

भोज का शृङ्गार व्यक्ति का अभिमान है जो उसके अहंकार का ही एक विशेष गुण है—तं त्वात्मनोऽहंकारगुणविशेषं ब्रूमः। स शृङ्गारः, सोऽभिमानः, स रसः।"[२३]

दण्डी प्रभृति आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रति आदि भावों के ही काव्य में शृङ्गार के रूप में उद्‌भूत होने तथा विभवादि से व्यञ्जित होकर रति आदि स्थायिभावों के आस्वादन को शृङ्गार कहे जाने के आनन्दवर्धन के सिद्धांत के भी वे विरोधी हैं। अभिनवगुप्त के द्वारा प्रतिपादित रस विषयक स्वात्मपरामर्श के सिद्धान्त से भी भोज के अहंकारवादी सिद्धान्त का सामञ्जस्य नहीं बैठता। रसानुभूति का अन्तर्दर्शनात्मक विवेचन करते हुए भोज कहते हैं कि रति आदि भाव तो मनुष्य ही नहीं पशु पक्षी सभी में विद्यमान रहते हैं, आत्मा भी सबकी होती ही है, फिर रसास्वाद सबको क्यों नहीं होता? उक्त स्वात्मपरामर्श के सिद्धान्त के अनुसार सभी प्राणियों को रसास्वाद होना चाहिए पर इस तथ्य से आँख नहीं मूँदा जा सकता कि रसानुभूति सबको नहीं होती। जिन्हें होती है उन्हें भी समान रूप से नहीं होती। अतः इसके कारण का ऊहापोहात्मक अनुसंधान सर्वथा अपेक्षित है।

चूँकि इसका कारण हमें दृष्टिगोचर नहीं होता इसलिये किसी कारण की गवेषणा करनी होगी जो अदृष्ट अर्थात् मात्रबुद्धिगम्य हो। वह कारण कोई असाधारण ही हो सकता है जो कि साक्षात् अहर्निश अनुभूयमान आत्मा में निहित अनादि वासना से सम्बन्धित उसके किसी धर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। जिसकी सत्ता संस्कार के रूप में व्यक्ति के अहंकार

२१. शृङ्गारप्रकाश ११ पृ० ४२९
२२. वही पृ० ४३०
२३. वही पृ० ४३१

में निहित होती है तथा उसे ही ग्रभिमान कहते हैं। वही शृङ्गार है। तथा रति ग्रादि सभी भाव उसी से उत्पन्न एवं ग्रन्तशः उसी में विलीन होते रहते हैं।[२४]

महाराजा भोज के द्वारा निरूपित शृङ्गार का यह स्वरूप सर्वथा विलक्षण एवं नितान्त रूप से उनका ग्रपना है। यहाँ ग्रात्मा की ग्रनादि वासना की बात उस समय की परिपाटी के ग्रनुरूप होने से व्याख्येय है। इसकी दार्शनिक मीमांसा करने पर ग्रनेक विसंवाद खड़े हो जायेंगे तथा यह बात विवाद का विषय बन जायेगी। यहाँ ग्रात्मा का ग्रर्थ यदि व्यक्ति की चेतना किया जाय तो गुत्थी कुछ सुलभ सकती है। ग्रनन्त व्यक्तियों में चेतना की ग्रभिव्यविंत ग्रनन्त रूप में होती है। पर क्यों? व्यक्ति-व्यक्ति की संवेदनाग्रों में वैषम्य का मूल कारण क्या है? इसका उत्तर दर्शन की विधायें चाहे कुछ दें पर सभी स्वीकार करेंगे कि प्रत्येक व्यक्ति कुछ ऐसे संस्कारों को ले कर उत्पन्न होता है जो उसके ग्रपने होते हैं ग्रौर किसी भी वातावरण के प्रभाव से उनमें ग्रामूल-चूल परिवर्तन नहीं किया जा सकता। उसे ही ग्रनादि वासना कहा जाता है। बौद्ध धर्म एवं दर्शन में ग्रनादिवासना एवं उसके क्रियाकलापों का बहुत विस्तार में निरूपण हुग्रा है। संभवतः भोज सा संकेत उसी ग्रोर है। इसीलिये ये उसे ग्रहंकार का विशेष गुण ग्रभिमान कहते हैं।

हम यहाँ केवल इसी बात से सम्बद्ध हैं कि भोज शृङ्गार को ही एकमात्र रस स्वीकार करते हैं। ग्रतः वह स्वतः प्रधान हो जाता है। सभी के उससे उत्पन्न होने में ही उसकी रस-राज होने बात सिद्ध हो जाती है। शृङ्गार की इस प्रकार की महत्ता में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

(ग) शान्त की रसराजता

रसों में शान्त के रस होने की बात उत्तरवर्ती प्रायः सभी ग्राचार्यों की चर्चा का विषय बनी है। ग्रानन्दवर्धन ने शान्त को महाभारत के ग्रङ्गीरस होने का श्रेय दिया है। भरतनाट्यशास्त्र में यद्यपि स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि ब्रह्मा ने ग्राठ ही रसों का विधान किया था—एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।[२५] तथापि शान्त नामक नवम रस को भी ग्राचार्यों की स्वीकृति मिल गई। यह बात ग्रलग है कि उसकी निष्पत्ति केवल श्रव्य-काव्य में ही संभव है दृश्यात्मक नाट्य में नहीं।[२६] शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।

२४. वही पृ० ४३१
२५. ना० शा० ६।१६
२६. दशरूपक ४।३५

भरतनाटयशास्त्र के षष्ठ अध्याय के अन्त में शान्त रस का भी निरूपण हुआ है जो चार में से एक ही परिवार के हस्तलेखों में उपलब्ध होता है। आपाततः तो यह अंश नाटयशास्त्र की प्रकृति के अनुरूप नहीं है। क्योंकि अध्याय के अरम्भ में ही रसों की कुल संख्या आठ होने का विधान सामान्य रूप से नाट्यशास्त्र के सभी हस्तलेखों में उपलब्ध होता है, तथा अध्याय की आन्तिम कारिका में भी आठ रसों के विवेचन का ही उल्लेख पुनः किया गया है—

एवमेते रसा ज्ञेयास्त्वष्टौ लक्षणलक्षिताः।[२७]

किन्तु शान्तरस के निरूपणात्मक इस अंश के ऊपर अभिनवगुप्त की टीका अत्यन्त विस्तार से प्राप्त होती है जिसमें शान्त के रस होने के पक्ष एवं विपक्ष में कई तर्क भी उपस्थित किये गये हैं। इस टीका से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं, एक तो यह कि नाट्यशास्त्र का यह अंश अभिनवगुप्त के समय में अवश्य था तथा दूसरी बात यह कि उस समय भी शान्त के रस होने या न होने का विवाद प्रचलित था। अभिनवगुप्त शान्त के रस माने जाने के पक्ष में थे।

हम यहाँ शान्त के रस होने या न होने के विवाद से सम्बन्धित नहीं हैं। नाट्यशास्त्र के इसी अंश में शान्त को ही सभी भावों की मूलप्रकृति कहा है तथा भावों को इसका विकार—

भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।

जिस प्रकार प्रकृति से उत्पन्नविकार प्रकृति में विलीन हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार अपने अपने उद्भावक निमित्तों को पाकर भाव अपने मूल शान्त से उद्‌बुद्ध होते हैं और निमित्त के हट जाने पर फिर उसी शान्त में विलीन भी हो जाते हैं—

स्व स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥[२८]

शान्त को रस माने या न माने जाने का विवाद इस विवेचन का विषय नहीं है। यहाँ तो शान्त रस को ही सभी रसों का मूल क्यों माना गया है इसका ऊहापोह करना ही हमारा लक्ष्य है।

शान्त रस का स्थायी भाव शम है। शम का तात्पर्य चित्त की वृत्तियों का उपशम है। बाह्य विषय के सन्निधान में आने पर विकास, विस्तार,

---

२७. ना० शा० ६।८३

२८. ना० शा० षष्ठ अध्याय।

क्षोभ एवं विक्षेप नामक जिन चार वृत्तियों के चित्त में उदय होने का विधान किया गया है इनका निरोध रूप वृत्ति ही शम है। इसी को चित्तवृत्ति का निरोध कहते हैं, जिसकी चरम परिणति योग या निर्विकल्पक समाधि में होती है। निरोध का अर्थ अभाव नहीं समझना चाहिये। क्योंकि चित्त का सर्वथा अभाव या विनाश संभव नहीं। जिस प्रकार जल में निरन्तर छोटी या बड़ी तरङ्गें उठा करती हैं पर कभी कभी एसी भी स्थिति पायी जाती है कि उसमें कोई तरङ्ग नहीं उठ रही होती। ठीक यही स्थिति चित्त की होती है। इसमें नाना प्रकार की वृत्तियों का उदय एवं विलय होता रहता है। जिनका वर्गीकरण विकास, विस्तार, क्षोम एवं विक्षेप चार में किया गया है। इन सभी वृत्तियोंा का चित्त में विलय ही इनका उपशम है जिसकी अनुभूति सामाजिक को शान्त रस के रूप में होती है। इसी बात को नाट्यशास्त्र की कारिका में भावों की प्रवृत्ति एवं उपलय पदो में व्यक्त किया गया है।

अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती विद्वानों का एक वर्ग था जो काव्य एवं नाट्य में शान्त रस की सत्ता का समर्थक था। उसका भी यही कहना था कि शान्त का अभिनय काम क्रोध आदि के अभावात्मक अनुभावों से होता है। शान्त रस के विरोधी विद्वानों का तर्क था कि अनुभाव कार्य को कहते हैं जिसका अनुभव चेष्टा के विना कैसे हो सकता है। इसलिये काम-क्रोध आदि के अभाव रूप अनुभावों से अभिनेय होने की बात वदतोव्याघात है। क्योंकि ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं कि जो शान्त नहीं है उसमें भी काम क्रोध आदि का अभाव पाया जाता है। करुण एवं विप्रलम्भ के अनेक ऐसे प्रसङ्ग हैं जहाँ काम क्रोध आदि भावों का अभाव पाया जाता है। वह सव शान्त तो नहीं हो सकता। अनुभाव तो स्थायी भाव का गमक अर्थात् सूचक होता है।[२९] साथ ही अभावात्मकरूप होने से जब किसी प्रकार चेष्टा ही इसमें अपेक्षित नहीं होगी तो इसका अभिनय किस प्रकार संगत होगा। चेष्टा का व्युपरम प्रयोग योग्य नहीं हो सकता। स्वप्न एवं मूर्छा आदि का भी अभिनय निःश्वास, उच्छ्वास, भूमिपतन आदि चेष्टाओं के द्वारा ही किया जाता है। फिर अभावात्मक अनुभावों का अभिनय किस प्रकार संभव होगा!

आचार्य अभिनव गुप्त का तर्क है कि काम, क्रोध आदि भावों के अनुरूप चित्तवृत्ति को ही कवि या नट के व्यापार से अनुभव में आने पर रति आदि भाव कहा जाता है तथा सहृदय की भावना का विषय होने पर उसे शृङ्गार आदि रस की संज्ञा प्राप्त हो जाती है तो मोक्ष नामक परमपुरुषार्थ के अनुरूप होने

---

२९. अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः। दशरूपक ४।३

वाली चित्तवृत्ति क्या अनुभव का विषय नहीं होती कि उसे स्थायीभाव की संज्ञा दी जा सके ? अवश्य होती है और उसी की साक्षात् अनुभूति को हम शान्त-रस कहते हैं। चित्त की इस वृत्ति का उद्भावक हेतु तत्त्वज्ञान से होने वाला निर्वेद है दारिद्रय आदि से उत्पन्न नहीं। अतः वही विभाव है। पर अनुभाव तो कामादि के अभाव रूप ही होगा।[30] फलतः जिस प्रकार गुरुजन एवं देवताविषयक रति की परिणति शृङ्गार में नहीं होती अपितु कान्ताविषयक रति ही शृङ्गार रस के रूप में आस्वादित होती है ठीक उसी प्रकार तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद ही शान्त रस में परिणत होने में सक्षम होता है, दारिद्रयजन्य नहीं।

इस प्रकार शान्त नामक रस होता है तथा सभी रसों का आस्वाद प्रायः शान्त के रूप में ही सम्पन्न होता है। क्योंकि अभिनवगुप्त के मत से वीर एवं शृंगार आदि रसों की भी अनुभूति स्वात्मपरामर्श के बिना नहीं होती। युद्ध आदि में राजा के लिए सैनिक के द्वारा अपने शरीर का त्याग किस सुख की अभिलाषा से किया जाता है ? शरीर को ही आत्मा मानने वालों के पक्ष में भी शरीर की रक्षा से बढ़कर स्वार्थ और कोई हो नहीं सकता। इसलिए यही मानना युक्तियुक्त है कि वीर, रौद्र एवं शृंगार आदि के प्रसङ्ग में जो आनन्दानुभूति होती है वह आत्मानुभूति ही है। उससे संवलित रत्यादि की अनुभूति ही रसानुभूति है। फलतः जहाँ कहीं भी रसानुभूति होती है आत्मा-नुभूति के बिना नहीं होती। आत्मबोधजन्य निर्वेद ही शान्त के रूप में रस की पदवी प्राप्त करता है। इसलिए अभिनवगुप्त का कहना है कि सभी रसों का आस्वाद शान्तप्राय ही होता है जिसमें इन्द्रियों के विषयों से विमुखता आ जाती है।

इस प्रकार शान्तरस को ही सभी रसों की मूलप्रकृति कहकर उसे रसराज के पद पर इसलिए बिठा दिया गया है कि सभी रसों की अनुभूति का धरातल शान्त है तथा शान्त की रसनीयता जितनी गहन एवं मार्मिक होती है उतनी अन्य किसी भी रस की नहीं। शान्त को सभी रसों का मूल कहने का प्रभाव यह हुआ कि आगे चलकर शान्त की गणना नवम रस के रूप में होने लगी।

(घ)करुण ही सर्वातिशायी रस

करुण को सभी रसों में मूर्धन्य स्थान देने का श्रेय किसी आचार्य को

---

३०. अभिनवभारती, (बड़ौदा, १९५६), षष्ठ अध्याय, पृ० ३३३

नहीं, समीक्षक को नहीं अपितु एक कवि को दिया जाता है जिसके नाम से हम सभी सुपरिचित हैं वह कवि है भवभूति। महाकवि भवभूति को करुण का सर्वोत्कृष्ट कवि माना जाता है और कहा जाता है कि 'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते'। करुण की सृष्टि करना तो भवभूति ही जानते हैं। इनका 'उत्तरराम-चरित' इसका साक्षात् निदर्शन है जिसमें शिला भी रोती है तथा वज्र के भी हृदय टूक-टूक हो जाते हैं। इसकी नायिका सीता तो करुण की साक्षात् मूर्ति ही है।

उत्तररामचरित के तृतीय अङ्क के उपान्त्य पद्य में भवभूति ने कहा है 'एको रसः करुण एव'। उनका इस उक्ति का अर्थ विविध विद्वान् अनेक प्रकार से करते हैं। उन्हीं में से एक पक्ष यह भी है कि निमित्तभेद अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव के भेद से निष्पन्न होने वाला एकमात्र रस करुण ही वीर एवं शृङ्गार आदि के रूप में सहृदय सामाजिक की प्रतीति का विषय हो जाता है। लेकिन जिस प्रकार वही जल परिस्थिति वश कहीं बुद्-बुद तो कहीं तरङ्ग आदि के रूप में बदला हुआ दिखाई देता है पर वस्तुस्थिति यह है कि वह उन रूपों में पर्यवसित नहीं हो जाता बल्कि मात्र प्रतीत होता है। उसी प्रकार करुण की ही विविध रसों के रूप में प्रतीति होती है।

इससे करुण के सभी रसों के मूल में निहित होने की बात सिद्ध होती है। इसका अभिप्राय कुछ विचारक यह लगाते हैं कि भवभूति करुण को ही रसराज या सभी रसों का राजा कहना चाहते हैं। इस मान्यता का आधार है करुण की भावना की व्यापकता। शृङ्गार, हास्य एवं क्रोध प्रभृति भाव इतने व्यापक नहीं हैं जितना करुण। गुरु, देवता एवं पुत्र आदि विषयक रति शृंगार नहीं हो सकती। न ही पुत्रादि विषयक क्रोध रौद्रता को प्राप्त कर सकता है। गुरुजन एवं राजा विषयक स्खलन भी हास का परिपोष नहीं कर सकता। पर सर्व-विषयक शोक करुण हो सकता है। शोक होना चाहिये चाहे वह कान्ता विषयक, गुरुजनविषयक अथवा परिजन या पशु-पक्षी विषयक ही क्यों न हो।

करुण की भावना इतनी व्यापक है कि उसके भीतर अशेष भावों का समावेश हो सकता है। वह अधिक से अधिक लोगों को अपनी अनुभूति में विकल कर सकता है। साथ ही वेदना की गहनता भी इसमें अधिकाधिक मात्रा में पायी जाती है। आनन्दववर्धन ने भी कहा है कि चित्त की द्रुति की चरम परिणति करुण है—

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ॥

आदि कवि वाल्मीकि की क्रौञ्चवधजन्य शोकभावना की अभिव्यक्ति ही रामायण है।

क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागत: ॥[31]

यहाँ श्लोक को काव्य का पर्याय मानना चाहिए और कारिका का यही अर्थ करना समुचित होगा कि करुण ही रचना को काव्यत्व प्रदान करने में समर्थ होता है। भवभूति का उत्तररामचरित इस तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है। इस कृति में सभी रस हैं पर अनुभूति सर्वत्र करुण की ही होती है। यहाँ इस बात की पुष्टि कुछ दृष्टान्तों से की जा रही है—

उत्तर रामचरित का प्रथम अङ्क खुलता है। पिता जनक के स्वदेश लौटने से सीता अन्यमनस्क हैं। राम उन्हें समझाते हैं, 'देवि, परवश होकर ही गुरुजन स्वदेश गये हैं। यह उनकी विवशता है। सीता कहती हैं 'जानामि आर्यपुत्र जानामि, परन्तु सन्तापकारिणो हि बन्धुजनविप्रयोगा भवन्ति'।

यह संभोग शृङ्गार का ही एक स्थल है। राम एवं सीता परस्पर अति अनुरक्त हैं पर पिता जनक के स्वदेश जाने से उनके मन भारी हो गये हैं और वे शृङ्गार भाव का उद्रेक करने में सर्वथा असमर्थ हैं। प्रत्युत करुणभाव ही सहज रूप से अनुभूति का विषय बन गया है।

एक दूसरा दृष्टान्त क्रोध का है। जनक वाल्मीकि के आश्रम में इस भाव से आये हैं कि वहाँ जानकी दिख जाए। पर साक्षात्कार हो जाता है राम की माता कौशल्या से। कञ्चुकी के द्वारा सीता के अग्निप्रवेश की बात सुनकर जनक का क्रोध भड़क उठता है और चाप एवं शाप दोनों से ही वह उससे बदला लेने के लिए उग्र हो उठते हैं जिसने सीता के साथ वैसा व्यवहार किया है। सब लोग डर से कांप उठते हैं। पर जनक के इस क्रोध की मीमांसा करने पर ज्ञात होता है कि वह सहृदय सामाजिक के साधारणीकरण का विषय नहीं हो पाता। कोई भी व्यक्ति चाहे वह कितना भी उग्र क्यों न हो राम के प्रति उसकी क्रोध भावना का अविर्भाव होता ही नहीं। फिर क्रोध की अनुभूति रूप रौद्र की निष्पत्ति हो कैसे सकती है। मात्र सीताविषयक करुण भाव व्यक्ति के मन को भर देता है। वही अनुभूति का विषय हो जाता है। अन्य सभी रसों की स्थिति उत्तररामचरित में इसी प्रकार व्याप्त है।

---

३१. ध्वन्यालोक १.५

भवभूति का अभिप्राय यही है कि रस चैतन्य का स्वात्मपरामर्श है उसकी गहनता जितनी करुण में संभव है उतनी अन्यत्र नहीं। इसी अर्थ में करुण अन्य रसों की अपेक्षा अधिक गहन एवं अधिक व्यापक है और इसीलिये इसे रसों का राजा कहा जा सकता है या रसराज के सिंहासन पर बिठाया जा सकता है।

रसानुभूति की अवस्था का विश्लेषण एक अन्य प्रकार से भी किया गया है। इसे कहीं चित्त की द्रुति, कहीं दीप्ति तो कहीं विकास कहा जाता है। इनमें विकास सर्वसाधारण है। क्योंकि प्रत्येक रस की अनुभूति के लिए चित्त में सत्त्व के जिस उद्रेक की अनिवार्यतः अपेक्षा होती है उसी को चित्त का विकास कहते हैं। चित्त की इस विकासावस्था के बिना किसी भी प्रकार के सौन्दर्य की अनुभूति संभव नहीं। साहित्य ही नहीं गीत, नृत्य एवं चित्र आदि कलाओं की अनुभूति भी चित्त के विकासावस्था का ही परिणाम है। यदि व्यक्ति का चित्त क्षिप्त या विक्षिप्त है तो कैसा भी मधुर संगीत श्रोता के मन को आन्दोलित नहीं कर सकता। अनेक लोग ऐसे होते हैं जिनके चित्त में सत्त्वोद्रेक की क्षमता उसीप्रकार नहीं होती जिस प्रकार सामान्य पशु पक्षियों में।

विकास की अपेक्षा द्रुति एवं दीप्ति रसानुभूति की गहन अवस्थाओं के द्योतक हैं। इनकी उपलब्धि काव्य से ही संभव है। शृंगार एवं करुण रसों में चित्त की द्रुति एवं वीर तथा रौद्र में दीप्ति होती है। पर द्रुति का चरम बिन्दु करुण होता है तथा दीप्ति का रौद्र। द्रुति एवं दीप्ति की तुलना करने पर व्यापकता की दृष्टि से तो द्रुति का क्षेत्र बड़ा है ही गहनता एवं मार्मिकता की दृष्टि से भी द्रुति दीप्ति से बढ़कर है। जीवन में भी क्रोध से अभिभूत व्यक्ति की अपने आप मृत्यु होते नहीं देखी जाती पर वियोग एवं शोक से व्यक्ति की मृत्यु का हो जाना भी सर्वथा अस्वाभाविक नहीं माना जाता। काम की दश अवस्थाओं में अन्तिम मरण है जिसके होने का विधान कामशास्त्र ही नहीं नाट्यशास्त्र में भी उपलब्ध होता हैं। करुण की स्थिति तो वियोग से भी परे है। अतः यह बात स्पष्ट हो गई कि चित्त की द्रुति उसकी दीप्ति से गहनतर है। फलतः द्रुति का चरमोत्कर्ष करुण अन्य सभी रसों की अपेक्षा अधिक मार्मिक होता है। यही करुण की एकता अर्थात् सर्वोपरि होने की बात है। भवभूति की उक्ति '**एको रसः करुण एव**' का यही तात्पर्य है। इसीलिए वे सीता को कभी करुण की मूर्ति तो कभी साक्षात् शरीर धारण किये हुए विरहव्यथा कहते हैं।

(ङ) भक्ति-रस की मूर्धन्य स्थिति

प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य रूप गोस्वामी ने अपनी महनीय कृति 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में 'भक्तिरस' के सिद्धान्त का अत्यन्त विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए रस-सिद्धान्त के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ दिया है। देवता, गुरुजन एवं राजा इत्यादि के प्रति काव्यों में अभिव्यक्त रति को भरत की परम्परा में भाव की संज्ञा दी गई थी—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः ॥[३२]

रूपगोस्वामी ने भगवद्विषयक मधुर रतिभाव को भक्तजनों के हृदय में सतत वर्तमान होने से स्थायीभाव कहा जो विभावादि से संवलित होकर भक्तिरस के रूप में सकल सहृदयों के आस्वाद का विषय होता है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के अनुसार मुख्य और गौण भेद से भक्तिरस के दो मौलिक भेद होते हैं तथा इन दोनों के अवान्तर भेदों के होने की भी व्यवस्था है। मुख्य भक्तिरस के पांच एवं गौण के सात भेद होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर भक्तिरस के बारह भेदों के होने का विधान किया गया है—

एवं भक्तिरसो भेदाद्द्वयोर्द्वादशधोच्यते।[३३]

यहाँ मुख्य एवं गौण पदों के प्रयोग से ही शान्त, प्रीति, प्रेयान्, वत्सल एव मधुर नामक पांच रसों की हास्य आदि अन्य सात रसों की अपेक्षा प्रधानता स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है। इन पाचों मुख्य रसों में भी उत्तमता के तारतम्य का विधान श्रीरूपगोस्वामी की ही अपर कृति 'उज्ज्वल-नीलमणि' में उपलब्ध होता है जहाँ उज्ज्वल को ही सर्वोत्कृष्ट रस कहा गया है तथा जिसका तादात्म्य नीलमणि अर्थात् साक्षात् कृष्ण से स्थापित किया गया है।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्ति रस का साङ्गोपाङ्ग निरूपण करने के अनन्तर भी इसी विषय पर 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थ की रचना का ग्रन्थकार का एक विशिष्ट प्रयोजन रहा है और वह यह है कि पांचों प्रकार के भक्तिरस के मुख्य भेदों में भी उज्ज्वल अर्थात् मधुर की श्रेष्ठता के आधार पर उसे रसराज सिद्ध करना—

---

३२. काव्यप्रकाश ४।३५

३३. भक्तिरसामृतसिन्धु २।५।९८

मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात् ।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः ॥[३४]

'उज्ज्वलनीलमणि' के टीकाकार प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य श्रीजीवगोस्वामी ने अपनी 'लोचनरोचनी' नामक व्याख्या में श्रीरूपगोस्वामी द्वारा 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में प्रतिपादित मुख्य रसों के नाम एवं क्रम में परिवर्तन करते हुए उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भी मुख्य रसों के नाम का परिगणन करते हुए पूर्व-पूर्व को अनुत्तम कहा गया है—

मुख्यस्तु पञ्चधा शान्तः प्रीतिः प्रेयाँश्च वत्सलः ।
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमाः ॥[३५]

यहाँ प्रयुक्त अनुत्तम शब्द के अर्थ को लेकर विसंवाद का होना सर्वथा स्वाभाविक है। उत्तम के साथ नञ् के प्रयोग से निष्पन्न अनुत्तम पद का अर्थ अनुचित, अनादर, अनिश्चित आदि के समान, 'उत्तम नहीं' भी समझा जाता है। इसी आधार पर 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के आधुनिक व्याख्याकारों ने 'यथापूर्वमनुत्तमाः' का अर्थ 'उत्तर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व कनिष्ठ होता है' ऐसा माना है। किन्तु संस्कृत वाङ्मय में अनुत्तम पद के प्रयोग अच्छे अर्थों में ही उपलब्ध होते हैं—

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।[३६]

'नास्ति उत्तमो यस्मात्' की बहुव्रीहि समास परक व्युत्पत्ति से निष्पन्न अनुत्तम पद का अर्थ 'सर्वोत्तम' या 'अपेक्षाकृत श्रेष्ठ' होता है। किन्तु ऊपर उद्धृत 'भक्तिरसामृतसिन्धु' की कारिका में प्रयुक्त 'अनुत्तम' पद का 'अपेक्षाकृत श्रेष्ठ' अर्थ करने में कठिनाई है। 'उज्ज्वलनीलमणि' में भक्तिरस के मधुर नामक जिस भेद को उज्ज्वल कहकर रसराज की पदवी से विभूषित किया गया है उसका 'भक्तिरसामृतसिन्धु' की उक्त कारिका में सबसे अन्त में परिगणन किया है। अतः 'यथापूर्वमनुत्तमाः' में प्रयुक्त 'अनुत्तम' पद का अर्थ श्रेष्ठ करने पर अन्यों की अपेक्षा मधुर रस ही निकृष्ट कोटि का सिद्ध हो जाता है, जो सर्वथा विपरीत बात है।

---

३४. उज्ज्वलनीलमणि १।२
३५. भक्तिरसामृतसिन्धु २।५।६६
३६. हितोपदेश, प्रस्ताविका ४

श्री जीवगोस्वामी ने इसीलिये रसों के क्रम बदलकर उज्ज्वल के नाम से मधुर को ही सबसे पहले परिगणित किया है—

क्रमेणोज्ज्वलवत्सलसख्यदास्यशान्तानां......यथापूर्वं श्रैष्ठ्यमित्युज्ज्वलरसस्यैव मुख्यत्वम् ।[३७]

यहाँ रसों के क्रम को सर्वथा विपरीत रूप में रखते हुए उनके नामों में भी परिवर्तन कर दिया गया है तथा 'अनुत्तम' पद को निर्भ्रान्ति न समझते हुए 'श्रैष्ठ्य' पद का प्रयोग किया है। मधुर के लिये उज्ज्वल, प्रीति के लिए दास्य एवं प्रेयान् के लिए सख्य पदों का प्रयोग हुआ है। इसप्रकार रूप गोस्वामी के दोनों ही ग्रन्थों के अनुसार भक्तिरस के मुख्य भेदों में से शान्त की अपेक्षा प्रीति, प्रीति की अपेक्षा प्रेयान्, प्रेयान् की अपेक्षा वत्सल तथा वत्सल की भी अपेक्षा मधुर रस श्रेष्ठ होता है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में निरूपित शान्त आदि मुख्य रसों में मधुर का निरूपण संक्षेप में ही जो किया था उसका कुछ रहस्य था और वह रहस्य यही था कि इनमें से मधुर ही सभी रसों का राजा है अतः उसके विवेचन के लिए स्वतंत्र रूप से एक ग्रन्थ की रचना अपेक्षित थी जो 'उज्ज्वलनीलमणि' के रूप में प्रकाशित हुई। ग्रन्थकार ने इस तथ्य का समुद्घाटन स्वयं किया है—

मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात् ।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः ।।[३८]

मधुर नामक भक्तिरस की परिभाषा श्री रूपगोस्वासी ने अपने दोनों ही ग्रन्थों में की है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के अनुसार निखिल भक्त जनों के निर्मल अन्तः करण में स्थायी रूप से विद्यमान, भक्त रूपी सहृदयों के हृदय में निहित भगवद्विषयक मधुर रति भाव ही स्वानुरूप विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभावों से परिपुष्ट होकर 'मधुर' नामक भक्तिरस कहलाता है।[३९] 'उज्ज्वलनीलमणि' के अनुसार भगवद्भक्तों के हृदय में निरन्तर विद्यमान भगवद् विषयक रति भाव ही जब विभावादि से संवलित होकर आस्वादनीयता को प्राप्त होता है तो उसे 'मधुर' नामक भक्तिरस कहते हैं—

वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरा रतिः ।
नीता भक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभिः ।।[४०]

---

३७. उज्ज्वलनीलमणि १।१ पर लोचनरोचनी व्याख्या ।
३८. उज्ज्वलनीलमणि १।२
३९. भक्तिरसामृतसिन्धु ३।५।१
४०. उज्ज्वलनीलमणि १।३

मधुर नामक भक्तिरस के रसराज होने के आधार का निरूपण करते हुए श्री रूप गोस्वामी ने तीन हेतुओं का उपन्यास किया है—

१. निवृत्त अर्थात् विरक्त जनों के उपयोगी न होने से;

२. सर्वसामान्य के लिए दुरूह होने से; तथा

३. रहस्य अर्थात् गोप्य होने से।

निवृत्तानुपयोगित्वाद्दुरूहत्त्वादयं रसः।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य वितताङ्गोऽपि लिख्यते ॥[४१]

'उज्ज्वलनीलमणि' के टीकाकार जीवगोस्वामी ने प्रथम दो हेतु निवृत्तानुपयुक्तत्व एवं दुरूहत्व का तृतीय 'रहस्यत्व' नामक हेतु में अन्तर्भाव मानते हुए उसे ही अर्थात् रहस्यत्व को ही मधुर के भक्तिरसराट् होने का आधार बताया है। क्योंकि निवृत्त पद से उन लोगों का ग्रहण होता है जो शान्त, दास्य, एवं वात्सल्य नामक रसों के प्रति ही भक्ति-बुद्धि से अधिक उन्मुख होते हैं तथा उज्ज्वल अर्थात् मधुर रस में स्थूल दृष्टि से उन्हें काम की ही प्रतीति होती है। अतः मधुर रस के प्रति उनमें अरुचि होती है। अतएव उसकी ओर से वे प्रायः विमुख ही होते हैं। अथवा मधुर नामक यह रस उन लोगों के लिये भी अनुपयुक्त है जो स्वाभाविक प्रवृत्तिमार्ग को छोड़कर मोक्ष की भावना से निवृत्ति मार्ग का आश्रयण करते हैं। अतः इस प्रकार के स्थूल-बुद्धि लोगों के लिये इस मधुर रस का दुरूह होना सर्वथा स्वाभाविक ही है। उक्त प्रकार से स्थूल दृष्टि के कारण अरुचि न होने से तथा दुरूह होने से वे लोग इसके मूल्य को न समझते हुए इसका तिरस्कार न करें अतः यह रहस्य अर्थात् गोप्य है। यहाँ रहस्यता का अभिप्राय दुराव या छिपाव नहीं है अपितु उसका महत्त्व ठीक ठीक न समझकर तिरस्कार की आशंका से बचाव है। इसीलिए 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में मधुर रस की महत्ता के प्रतिपादक तीनों युक्तियों का अन्तर्भाव कर 'उज्ज्वलनीलमणि' में केवल रहस्यत्व का ही उपादान किया गया है। भक्ति रस का मधुर नामक यही भेद शेष ग्यारह प्रकार के सभी रसों से उत्कृष्ट होने के कारण उन सबके राजा के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

---

४१. भक्तिरसामृतसिन्धु ३।५।२

८

रस काव्य के अन्य तत्त्वों के रूप में

(क) अलंकार के रूप में रस

यद्यपि भरत नाट्यशास्त्र में रस से पृथक् अलंकारों का नाममात्र के रूप में निरूपण हो चुका था तथापि भामह एवं उद्भट प्रभृति अलंकारवादी आचार्यों ने रस, भाव, रसाभास एवं भावाभास को क्रमशः रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वित् एवं समाहित नामक अलंकारों के रूप में निरूपित किया है। आनन्दवर्धन ने रसादि ध्वनि को रसवत् आदि अलंकारों से पृथक् सिद्ध करते हुए युक्ति दी है कि अलंकार का आधार ही रसादि तत्त्वों में उत्कर्ष का आधान करना है। रस चूंकि अलंकार्य है अतः वह स्वयं अलंकार नहीं हो सकता। आचार्य मम्मट ने इसे और स्पष्ट कर दिया है कि जहाँ रस प्रधान होता है वहाँ इसकी संज्ञा रस है अन्यत्र जहाँ वह गौण अर्थात् अप्रधान या कम चारु होता है वही रसवत् आदि अलंकारों का विषय है जिन्हें ध्वनिसिद्धान्त के अनुसार गुणीभूतव्यंग्य कहा जाता है।

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः॥[1]

अलंकारवादी आचार्यों की कृतियों का अनुशीलन आनन्द एवं मम्मट के उक्त विधान की पुष्टि नहीं करता। उनकी दृष्टि में तो काव्य में रस का जिस रूप में भी निरूपण होगा वह सब रसवत् अलंकार कहलायेगा। प्रथम आलंकारिक आचार्य भामह की साक्षी तो मम्मट की अवधारणा के सर्वथा विपरीत जाती है जब वे कहते हैं—

रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादि रसं यथा।[2]

जहाँ शृंगार आदि रस का स्पष्ट निदर्शन हो वहाँ रसवत् अलंकार होता है। स्पष्ट निदर्शन से उनकी स्फुट प्रतीति ही अभिप्रेत है। जहाँ भी रस की

---

१. ध्वन्यालोक २।५
२. भामह, काव्यालंकार ३।६

स्फुट प्रतीति होगी वह अन्य तत्त्वों की अपेक्षा प्रधान हो जाएगा। रस की अप्रधानता का कारण उसकी अतिगूढ़ता या वस्तु अथवा अलंकारतत्त्व की स्फुट प्रतीयमानता है। इन स्थलों में रस की प्रतीति शिथिल हो जाती है। दण्डी ने भी रस-पेशल वर्णन को रसवत् अलंकार की संज्ञा दी है।[3] रस की पेशलता उसकी अप्रधानता में कभी भी निहित नहीं हो सकती।

अलंकारवादी आचार्यों के मूर्धन्य भट्टोद्भट ने भी रसवत् आदि के अलंकार होने का निरूपण अपनी कृति 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' में किया है। शृंगार आदि रसों का जहाँ स्पष्ट रूप से निदर्शन हो वहाँ रसवत् अलंकार होता है। इनकी स्पष्ट प्रतीति पाँच प्रकार से सम्भावित है—स्वशब्द अर्थात् उनके लिए प्रयुक्त शृङ्गार आदि शब्दों से, रत्यादि स्थायी एवं निर्वेदादि संचारी भावों के द्वारा, आलम्बनोद्दीपन विभाव से तथा अभिनय से।[४]

आचार्य आनन्दवर्धन ने रस का रस या शृङ्गार आदि शब्दों से निरूपण सदोष माना है तथा कहा है कि स्व शब्द से निवेदित होने मात्र से रस की निष्पत्ति नहीं होती। अपितु रस या शृंगारादि शब्दों के द्वारा अभिधान न होने पर भी विभावादि के संयोजन मात्र से रस की निष्पत्ति हो जाती है।[५] मम्मट के अनुसार तो स्व शब्द से ही नहीं अपितु विभावादि का भी नामतः उपादान करने से काव्य के रसास्वाद में बाधा पहुँचती है। अतः इनकी गणना रस-दोषों में की है।[६]

प्रतिहारेन्दुराज ने 'काव्यालंकारसारसंग्रह' की टीका 'लघुवृत्ति' में भट्टोद्भट के ही नाम का उल्लेख करते हुए रस को पाँच रूपों से निष्पन्न बताया है। इनमें से प्रथम रूप शृङ्गार आदि रसों के लिए प्रयुक्त शृङ्गार आदि शब्दों से रस का निष्पन्न होना है। इसी को स्वशब्द से रस की निष्पत्ति कहते हैं। रसों के उपादान कारण रत्यादि स्थायिभावों के द्वारा रस की निष्पत्ति का प्रकार दूसरा है। रसों की विशेष अवस्था के परिचायक निर्वेद आदि व्यभिचारिभावों से होने वाली निष्पत्ति तीसरा प्रकार है तो चौथा प्रकार रसों के

---

३. रसवद्रसपेशलम्। काव्यादर्श २।२७५

४. रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसादयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्।।का० सा० सं० ४।३

५. नहि केवलशृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि......काव्ये मनागपि रसवत्त्व-प्रतीतिरस्ति। ध्वन्यालोक १।४ पर वृत्ति।

६. व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता। का० प्र० ७।६०

निमित्त कारण विभावादि के द्वारा रस का निष्पन्न होना है। आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य नामक चारों प्रकार के अभिनय रसों के कार्य-भूत तत्त्व हैं। इनसे ही रस किया जाता है। अतः ये भी रस के ही रूप हैं तथा उसकी निष्पत्ति के पञ्चम प्रकार में आते हैं। इन पांचों के सम्मिलित अथवा अलग-अलग रूप से जहाँ शृंगारादि रसों का स्फुट रूप से आविर्भाव होता पाया या देखा जाता है काव्य के उसी प्रकार को रसवत् अलंकार कहते हैं।[७]

रस को भी अलंकार कहने का आधार यह है कि अलंकारवादी आचार्यों की दृष्टि में अलंकारता कविता का पर्याय है। वह उपमा, रूपक, दीपक आदि कुछ स्वरूपों में ही बांधकर रखी नहीं जा सकती। अपितु काव्य में जिस किसी भी प्रकार से चमत्कार का आधान होता है वह सब अलंकार है। नव-नवोन्मेषशालिता काव्य के लिए जीवन है। अतः जैसे जैसे नवीन मार्ग का उन्मेष कविता के माध्यम से होता जाता है वैसे ही वैसे अलंकारों की नूतन सृष्टि अनिवार्य हो जाती है। आनन्दवर्धन ने भी इस तथ्य को सहर्ष स्वीकार किया है—'सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैः अलंकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च'।[८] रस भी काव्य का एक महनीय तत्त्व है जिससे काव्य में चारुता का आधान सुतरां होता है। अतः इसे भी अलंकार की संज्ञा से अभिहित करना सर्वथा समुचित है। यही कारण है कि अप्पय्य दीक्षित प्रभृति उत्तरवर्ती आचार्यों ने ध्वनि की सत्ता मानते हुए भी रसवत् आदि का अलंकार के रूप में ही निरूपण किया है। भोज ने अलंकारों के तीन वर्ग होने का विधान किया है—वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति एवं रसोक्ति। जहाँ उपमा आदि अलंकारों की प्रधानता होती है वे स्थल वक्रोक्ति के हैं तथा श्लेष आदि गुणों की प्रधानता होने पर वह स्वाभावोक्ति कहलाता है। इनके अतिरिक्त जहाँ विभाव, अनुभाव एवं संचारि भावों के उपनिबन्धन से रसनिष्पत्ति होती है वे स्थल रसोक्ति के हैं।[९]

---

७. एतेषां च स्वशब्दादीनां पञ्चानां समस्तव्यस्ततया आस्पदत्वाद्येन काव्येन स्फुटरूपतया शृङ्गारादिरसाविर्भावो दर्श्यते तत् काव्यं रस-वत्, रसाः खलु तस्यालंकारः ।
का० सा० सं० कारिका ४।४ पर लघुवृत्ति ।

८. ध्वन्यालोक १।१ पर वृत्ति।

९. शृङ्गारप्रकाश ११, मैसूर (१९६३), पृ० ४३८

(ख) गुण के रूप में रस

गुणों में रस की स्थिति का संकेत सबसे पहले दण्डी के काव्यादर्श में प्राप्त होता है जहाँ श्लेष आदि दश गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण कहा गया है। दश में से अन्यतम गुण माधुर्य का विवेचन करते हुए आचार्य ने कहा है—

> मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ।
> येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥[१०]

माधुर्य गुण, रस से ओत-प्रोत कवि की वाणी तथा उन विषयों के वर्णन में पाया जाता है जिससे सहृदय सामाजिक मस्त हो जायें जैसे वसन्त में भ्रमर उन्मत्त हो जाता है। इस प्रकार कविता की भाषा एवं उसके वर्ण्य-विषय में रसकी स्थिति जब पूर्ण रूप से हो तो उसे माधुर्य गुण की संज्ञा दी गई है। यहाँ पर रस पद के प्रयोग से रस-सामान्य का ग्रहण किया गया है।

गुणों को काव्य-शोभा का आधायक तत्त्व कहने वाले आचार्य वामन ने 'कान्ति' नामक अर्थ गुण की परिभाषा ही रसपरक की है—दीप्तरसत्वं कान्तिः।[११]

काव्य में जहाँ शृङ्गार आदि रस दीप्त हों वह स्थल कान्तिगुण का होता है। रस की दीप्ति से यहाँ तात्पर्य उसकी स्फुट प्रतीति से है। आगे चलकर आनन्दवर्धन ने रस के सन्दर्भ में दीप्ति, द्रुति एवं विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और इन्हें चित्त से सम्बद्ध माना। वीर, रौद्र एवं भयानक रसों की अनुभूति सहृदय सामाजिक के चित्त की दीप्ति के रूप में होती है जहाँ ओजोगुण रहता है।[१२] उभयविध शृंगार एवं करुण रसों में माधुर्य गुण पाया जाता है। इसमें सहृदय का चित्त द्रवित हो उठता है। प्रसाद गुण का कार्य चित्त का विकास है जो प्रायः सभी रसों में पाया जाता है।[१३] आनन्दवर्धन ने शृङ्गार को ही मधुर कहा है।[१४] इस प्रकार हम देखते हैं कि

---

१०. काव्यादर्श १।५१

११. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३।२।१४

१२. रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः ।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ॥ ध्वन्या० २।६

१३, शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥ वही २।८

१४. शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः । वही २।७

रसों को गुणों के रूप में निरूपित करने की परम्परा बहुत ही पुरानी है। गुणवादी आचार्यों ने काव्य के उन स्थलों के लिए जो पाठक या प्रेक्षक को विशेष रूप से रिझाते हैं जिन गुणों का विधान किया है उनका लक्षण निर्द्वन्द्व रूप से रसपरक है।

(ग) ध्वनि के रूप में रस

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिसिद्धान्त की उद्भावना कर संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा तथा अपने समय से पूर्व उद्भावित साहित्य-शास्त्रीय तत्त्वों की व्यवस्था ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर की। चूँकि रस काव्य के एक महनीय तत्त्व के रूप मे प्रतिष्ठा पा चुका था अतः रस को भी ध्वनि-सिद्धान्त के सांचे में ढालना आवश्यक था। व्यंजना नामक नई शक्ति का आश्रय लेकर उन्होंने रस को ध्वनि का एक भेद माना। काव्य तत्त्वों की दृष्टि से ध्वनि में मुख्य रूप से तीन तत्त्वों का समावेश है—वस्तु, अलंकार और रस। वस्तु से इनका तात्पर्य कोई अभिप्राय या विचार है। कवि विभिन्न विषयों में प्रायः कोई नई बात कहना चाहता है जो ज्ञान के क्षेत्र में एक नई जानकारी होती है। उसी को आनन्द ने 'वस्तु' कहा है। अलंकार, शब्द एवं अर्थ को आधार बनाकर अभिव्यक्ति में वैचित्र्य का सृजन करते हैं। रस रत्यादि भावों का अनुभवात्मक बोध है। आनन्द ने वस्तुध्वनि, अलंकार-ध्वनि एवं रस-ध्वनि के नाम से ध्वनि के तीन मुख्य भेदों का प्रतिपादन किया है। जिनमें रस-ध्वनि को अङ्गी अर्थात् सर्वातिशायी कहा है।

रस को ध्वनि कहने का आनन्दवर्धन का अभिप्राय उसकी प्रतीयमानता अर्थात् व्यञ्जनीयता से है। उनका कहना है कि रस तत्त्व स्वप्न में भी वाच्य नहीं हो सकता। वस्तु एवं अलंकार ध्वनियों से रस का वैशिष्ट्य इसी में है कि वह मात्र व्यङ्ग्य होता है। जब कि वस्तु एवं अलंकार वाच्य भी होते हैं। रस कभी भी किसी अवस्था में भी वाच्य नहीं हो सकता। उद्भट प्रभृति पूर्वाचार्यों ने स्वशब्द अर्थात् रस या शृङ्गार आदि शब्दों से भी रस की उपस्थिति का विधान किया है। ध्वनिकार उसे स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि स्वशब्द अर्थात् रस एवं शृङ्गार आदि पदों के बहुशः प्रयोग होने पर भी रसानुभूति नहीं होती। इसके अतिरिक्त इनके प्रयोग के बिना भी विभावादि के संयोजन से रसानुभूति सुतरां होती है। अतः अन्वयव्यतिरेक से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रसानुभूति विभावादि के संयोजन से ही संभव

है।[१५] विभावादि चूँकि रस के वाचक नहीं हो सकते अतः रस इनके द्वारा व्यंग्य ही होता है। फलतः रस वाच्य नहीं हो सकता। इसीलिए काव्य के रस परक प्रसङ्गों में यदि रस या शृङ्गारादि पदों का प्रयोग कवि करता है तो इसे दोष की संज्ञा दी जाती है।[१६]

आनन्दवर्धन ने रस को रसादि-ध्वनि के रूप में निरूपित किया है। रस, भाव, उनके आभास तथा भावों के उदय, शान्ति, सन्धि एवं शबलता इन आठ तत्त्वों का ग्रहण रसादि पद से होता है। क्योंकि ये सब एक ही कोटि के हैं जिसे अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि कहते हैं। ये सभी व्यङ्ग्य अवश्य होते हैं पर वाच्यार्थ से इनकी व्यञ्जनीयता का क्रम इतना सूक्ष्म होता है कि सहसा लक्षित नहीं हो पाता। रसादि के जितने भी भेद-प्रभेद संभव होते हैं उन सबका अन्तर्भाव इस अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में सुतरां साधित हो जाता है।

आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य में रसादि की व्यङ्ग्यता दो रूप में पाई जाती है प्रधानतया तथा गौण रूप में। जहाँ रसादि प्रधान रूप से व्यङ्ग्य होते हैं वही स्थल रसध्वनि का है। इसके विपरीत जहाँ रसादि की प्रधानता नहीं होती उस स्थल को गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं। रसादि की प्रधानता वाच्य एवं व्यङ्ग्य उभयसापेक्ष होती है। साहित्यिक तत्त्वों में प्राधान्याप्राधान्य का निर्णय तीन प्रकार से किया जाता है—चारुत्वोत्कर्ष, कविविवक्षा एवं परिवृत्तिसहत्वासहत्व के आधार पर। ध्वनि के विषय में जब विसंवाद उपस्थित होता है कि कौन प्रधान है तथा कौन गौण तो चारुत्वोत्कर्ष की कसौटी पर इसे कसा जाता है। जिस तत्त्व में चारुता का उत्कर्ष अन्य की अपेक्षा अधिक हो उसे ही प्रधान एवं दूसरों को अप्रधान अर्थात् गौण कहना चाहिए।[१७]

---

१५. तृतीयस्तु रसादि लक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते न तु साक्षात् शब्दव्यापारविषय इति वाच्यात् विभिन्न एव। तथाहि वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्, विभावादिप्रतिपादन मुखेन वा। पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनाम् अप्रतीतिप्रसङ्गः।
ध्वन्यालोक, चौखम्बा, १९६५, पृष्ठ ८१

१६. रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि।
सा० द० ७।६

१७. चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्याप्राधान्यविवक्षा।
ध्वन्यालोक, प्र० उ०, का० १।३ पर वृत्ति।

चारुत्व के उत्कर्षापकर्ष का निर्णायक सहृदय के हृदय के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व बन नहीं सकता।[१८]

कविविवक्षा के आधार पर वस्तु एवं अलंकार के स्थलों में प्राधान्याप्राधान्य का निर्णय किया जाता है। कवि जिसका निर्वाह पूर्ण रूप से करना चाहता है उसके लिए संकेत दे देता है। उसी के आधार पर कहा जा सकता है कि वस्तु की प्रधानता है या अलंकार की। काव्यीय तत्त्वों के जब शब्दगत या अर्थगत होने का विसंवाद खड़ा होता है तो वहाँ अन्वय-व्यतिरेक की प्रणाली का उपयोग किया जाता है। इसी को परिवृत्तिसहत्वासहत्व का सिद्धान्त कहते हैं। शब्द का परिवर्तन कर देने पर भी यदि वह दोष, गुण या अलंकार बना रहता है तो उसे अर्थ से सम्बन्धित मानकर व्यवहार होता है। अन्यथा शब्द का परिवर्तन कर देने पर दोष, गुण या अलंकार बना नहीं रहता तो उसे शब्दगत ही मानना होता है। अन्य तत्त्वों की तुलना में रस की प्रधानता या अप्रधानता का निर्णय सहृदयसंवेद्यता से ही व्यवस्थित होगा। जिस तत्त्व में सहृदयों के मन को आवर्जित करने की अधिक क्षमता होगी वही प्रधान तथा अन्य गौण माना जाएगा।

रसादि जहाँ प्रधान होते हैं वहीं इनकी संज्ञा ध्वनि है अन्यथा गौण होने पर इन्हें ही गुणीभूतव्यङ्ग्य के नाम से अभिहित किया जाता है। आचार्य आनन्दवर्धन की दृष्टि में पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि एवं समाहित प्रभृति अलंकारों की संज्ञा रसादि की अप्रधानता में ही संभव है, प्रधानता में नहीं।[१९] क्योंकि अलंकार पद का अर्थ दूसरे की शोभा बढ़ाना है। जब रसादि प्रधान रूप से व्यङ्ग्य होंगे तो उनके अङ्गी होने से अन्य तत्त्व ही उनकी शोभा में उत्कर्ष का आधान करेंगे। क्योंकि वे अलंकार्य हो जाएंगे। ऐसी स्थिति में उन्हें अलंकार कहना वदतोव्याघात है। अथवा रूपक, दीपक आदि को अलंकार इसलिए कहते हैं कि वे काव्य में निरूपित रसादि तत्त्वों की शोभा में उत्कर्ष का आधान करते हैं।[२०]

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीना सर्वासामलंकारत्वसाधनम्॥[२१]

---

१८. सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्। सा० द० ३।४

१९. ध्वन्यालोक २।५

२०. ध्वन्यालोक, पृ० २०८

२१. ध्वन्यालोक, का० २।५ पर संग्रहश्लोक।

इसलिए जहाँ पर काव्य के मुख्य प्रतिपाद्य रसादि ही हों वे रसवत् अलंकार के स्थल नहीं हो सकते ।

ध्वनि-सिद्धांत के अनुसार तो रसवत् अलंकार बन ही नहीं सकता। क्योंकि जहाँ रसादि प्रधानतया निरूपित हों वहीं वे ध्वनि की संज्ञा प्राप्त करते हैं तथा जहाँ उनकी प्रधानता नहीं होती अपितु वे वाच्य या व्यङ्ग्य किसी अन्य तत्त्व के तुल्यकोटि अथवा उनसे निम्न कोटि के होते हैं वहाँ इन्हें गुणीभूतव्यङ्ग्य कहा जाता है । अलंकार तो काव्य की तृतीय एवं अत्यन्त हीन कोटि है जिसे आनन्द चित्र-काव्य कहते हैं। रसादि उस कोटि को इसलिए प्राप्त नहीं हो सकते कि चित्र-काव्य सर्वथा व्यङ्ग्यरहित हुआ करता है और रसादि केवल व्यङ्ग्य ही होते हैं। इसीलिए मम्मट, हेमचन्द्र एवं विश्वनाथ प्रभृति सभी ध्वनिवादी आचार्यों ने रसवत् आदि को अलंकारों में परिगणित कर निरूपित करने की आवश्यकता नहीं समझी ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने ध्वनि के अभिधामूल एवं लक्षणामूल दो भेदों में से प्रथम अभिधामूल-ध्वनि के रस, वस्तु एवं अलंकार तीन भेद तथा लक्षणामूल के अर्थान्तर संक्रमित एवं अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य नामक दो भेद करते हुए कुल पांच भेदों का निरूपण किया है। इन पांचों प्रकार की ध्वनियों में रसध्वनि को परमरमणीय होने से मूर्धन्य माना है तथा पूर्व परम्परा के अनुसार ही रसध्वनि से रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता का ग्रहण किया है। इन सब में भी रस को ही रसध्वनि की आत्मा कहा है।[२२]

इसके अतिरिक्त श्री शंकुक ने रस-सूत्र की अपनी व्याख्या में रस को अनुमेय कहा है जिसका समर्थन महिमभट्ट ने अपनी ध्वनिध्वंसनात्मक कृति 'व्यक्तिविवेक' में पर्याप्त विस्तारपूर्वक किया है। श्री शङ्कुक का कहना है कि विभावादि हेतुओं से अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर व्याप्ति बनाकर रस की साध्य के रूप में अनुमिति होती है। रस तत्त्व अनुमीयमान अग्नि आदि अन्य तत्त्वों से विलक्षण इसलिए है कि यहाँ अनुमान की बौद्धिक प्रक्रिया के साथ-साथ काव्य के पाठक या नाट्य के प्रेक्षक सहृदय सामाजिक की रत्यादि वासनायें भी जाग्रत होकर क्रियाशील हो उठती हैं। फलतः जहाँ धूम से अनुमित होकर अग्नि अनुमाता को उष्णता नहीं प्रदान कर पाती वहाँ रस

---

२२ एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावद-भिधीयते। रसगङ्गाधर, (चौखम्बा, १९५५), प्र० आ०, पृ० ७९

अनुमीयमान होकर अनुमाता सामाजिक की अनुभूति का भी विषय हो जाता है।

अभिनवगुप्त एवं पण्डितराज जगन्नाथ काव्य-रस को भी प्रत्यक् चैतन्य का रूप ही मानते हैं। भट्टनायक एवं विश्वनाथ ने तो उसे ब्रह्मास्वादसहोदर तक होने का विधान किया। पर उक्त आचार्यों के विवेचनों के अनुसार रस साक्षात् आत्मा ही हो गया जिसके लिये श्रुतियों में कहा गया है—रसो वै सः।

६

काव्यात्मा रस

काव्य का व्यक्तीकरण

अग्नि, जल, वायु आदि प्राकृतिक तत्त्वों की तरह ही विद्या, कला प्रभृति विचारों एवं शुभाशुभ तत्त्वों का मानवीकरण कर अंग प्रत्यंग के रूप में उनसे सम्बन्धित तथ्यों का निरूपण करना भारतीय चिंतनपरम्परा का सहज स्वभाव है जहाँ प्रत्येक विषय एवं वस्तु का एक अधिष्ठातृ देवता है तथा उस देवता के साथ उस विषय या वस्तु का तादात्म्य स्थापित कर ही उसके स्वरूप का निरूपण हुआ है। उदाहरणतः विद्या का उसके उपासक ब्राह्मण के पास जाना और उससे आग्रह करना कि वह उसकी रक्षा करे तथा ऐसे व्यक्तियों को न दे जो कुटिल एवं निन्द्य हों;[1] तथा महाभारत की उक्ति के अनुसार अल्पज्ञ से वेद का डरना कि वह उस पर प्रहार करेगा;[2] एवं पाणिनि का विधान कि वेदों के पैर छन्द, हाथ कल्प, नेत्र ज्योतिष, श्रोत्र निरुक्त, घ्राण शिक्षा तथा मुख व्याकरण होते हैं जो वेद के अंग कहे गये हैं, इसी प्रकार के हैं।[3] ठीक इसी परम्परा में काव्य को भी पुरुष मानकर गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति एवं प्रवृत्ति आदि काव्य-तत्त्वों को उसके अंग-प्रत्यंग के रूप में निरूपित करने की प्रथा भी कम पुरानी नहीं है। भरत-नाटचशास्त्र में नाटच या उसके किसी तत्त्व को व्यक्ति के रूप में निरूपित तो नहीं किया गया है किन्तु नाटच या नाटचवेद के जन्म तथा उसके अंग-प्रत्यंग के होने का विधान यत्र तत्र उपलब्ध होता है। भावों और रसों को देवताओं के अंशांश से उद्भूत मानते हुए उनके देवता वर्ण आदि के होने का विवरण दिया गया है तथा रस को प्रयोग अर्थात् नाट्यकला का प्राण कहा है[4]।

---

१. निरुक्त २।४

२. महाभारत १।१।२६८

३. पाणिनीयशिक्षा, ४१,४२

४. नाटचशास्त्र, षष्ठ अध्यःय।

भामह ने काव्यमय वपु एवं काव्य-शरीर की चर्चा अपनी महनीय कृति काव्यालंकार में की है—

आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः ॥
यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते ॥[५]

एक अन्य स्थल पर शब्द, वाक्य, न्याय तथा कला को काव्य का अंग कहा है—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला ।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ॥[६]

यही नहीं अनुमान के महत्त्व का निरूपण करते हुए आचार्य ने कहा है कि इसकी आत्मा और प्रकृति को अच्छी तरह समझना चाहिए—

अस्यात्मा प्रकृतिर्वेति ज्ञेया हेत्वपवादिनी ॥[७]

दण्डी ने भरत एवं भामह की अपेक्षा काव्य का मानवीकरण अधिक स्पष्ट किया है। काव्यगत दोष को वे शरीर के ऊपर श्वेतकुष्ठ के दाग के समान अशोभनीय कहते हैं—

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन ।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥[८]

इन्होंने काव्यों के शरीर की चर्चा करते हुए पदावली को शरीर का स्थान दिया है—

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥[९]

किन्तु दण्डी वे प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य में प्राण-तत्त्व का भी अनुसंधान किया है। उनकी दृष्टि से काव्य के उत्तम प्रकार वैदर्भ-मार्ग के प्राण दश प्रकार के गुण होते हैं—

---

५. काव्यालंकार १।६, २३
६. वही ५।४
७. वही ५।१५
८. काव्यादर्श, १।७
९. वही १।१०

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः ।[10]

वामन प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य की आत्मा होने का विधान किया है। उनके अनुसार रीति ही काव्य की आत्मा है ।

यहाँ आत्मा पद का अर्थ स्वरूप नहीं है। इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

रीतिनाम इयमात्मा काव्यस्य, शरीरस्येवेति वाक्यशेषः ।[11]

आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य के शरीर आदि की चर्चा न करते हुए भी ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः यः समाम्नातपूर्वः ।[12]

राजशेखर ने अपनी विलक्षण कृति 'काव्यमीमांसा' में काव्य को पुरुष कहकर उसे सरस्वती का पुत्र बताया है तथा उसकी उत्पत्ति की कथा का बड़े रोचक ढंग से वर्णन किया है। बृहस्पति के शिष्यों ने उनसे पूछा कि आपके गुरु कैसे हैं जिन्हें आप सारस्वतेय काव्यपुरुष के नाम से अभिहित करते हैं। बृहस्पति ने उन्हें काव्यपुरुष की उत्पत्ति की कथा सुनाई। पुत्र की कामना से सरस्वती ने हिमालय पर घोर तप किया उससे प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उन्हें पुत्र होने का वर दिया। फलतः सरस्वती ने काव्यपुरुष को जन्म दिया। उत्पन्न होते ही काव्यपुरुष ने मां सरस्वती को प्रणाम करते हुए कहा कि यह निखिल विश्व वाणी का ही विकार है जो उसके अर्थ के रूप में परिणत होता है। मैं वाङ्मयरूप वही काव्यपुरुष हूँ, तुम्हारी चरणों की वन्दना कर रहा हूँ—

यदेतद् वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्तते ।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ ।।[13]

सरस्वती ने स्नेह पूर्वक उसे गले लगाते हुए आशीर्वाद दिया कि निखिल वाङ्मय की जननी मुझे भी तुम पराजित करो। क्योंकि पुत्र से पराजय पाकर द्वितीय पुत्र-जन्म के समान आह्लाद होता है। सरस्वती ने काव्य-पुरुष को उसके स्वरूप का परिचय कराते हुए कहा कि शब्द और अर्थ तेरे शरीर हैं,

---

१०. काव्यादर्श १।४१
११. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १।२।६
१२. ध्वन्यालोक १।१
१३. काव्यमीमांसा, तृतीय अध्याय ।

संस्कृत तुम्हारा मुख, प्राकृत बाहु, अपभ्रंश जांघे, पैशाची पैर तथा सबका मिश्रण हृदय है। तुम सुषम हो तथा तुम्हें निरन्तर प्रसन्न रहना चाहिए। तुम्हारा स्वभाव मधुर हो तथा मन उदार। तथा कुल मिलाकर तुम ओजस्वी हो। सुन्दर उक्तियाँ ही तुम्हारी वाणी हैं। **रस तुम्हारी आत्मा है।** छन्द तुम्हारे रोम हैं। प्रश्नोत्तर एवं प्रहेलिका आदि तुम्हारी वाक्क्रीड़ा हैं तथा अनुप्रास और उपमा प्रभृति तुम्हें अलंकृत करते हैं। भविष्य के अर्थ को प्रगट करने वाली श्रुति भी तुम्हारा गुणगान करती हैं।[१४]

इस प्रकार राजशेखर ने सबसे पहले काव्य का मानवीकरण कर उसका सम्पूर्ण स्वरूप प्रस्तुत किया तथा वाङ्मय की तद् तद् विधाओं को उसके अंग-प्रत्यंग के रूप में स्थान दिया। यहाँ हम यह भी पाते हैं कि संस्कृत-साहित्यशास्त्र के इतिहास में राजशेखर ही वह आचार्य हैं जिन्होंने सबसे पहिले रस के काव्य की आत्मा होने का विधान किया है। अनन्तर तो रस के काव्यात्मा होने का सिद्धान्त प्रायः सर्वग्राह्य हो गया।

आत्मा पद के विविध अर्थ

भारतीय वाङ्मय में आत्मा पद अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। पर मुख्य रूप से इसका प्रयोग शरीर, अन्तःकरण एवं जीव के लिए रूढ़ है। वस्तुतः आत्मा शब्द व्यक्ति से सम्बन्धित है। अतः कभी तो यह व्यक्ति के शारीरिक सम्बन्धों का बोध कराता है तो कभी उसके मन, बुद्धि एव अहंकार रूप अन्तःकरण का। लेकिन दर्शनपरक कृतियों में आत्मा शब्द देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं अहकार से भी परे सूक्ष्मशरीर का जिसे जीवात्मा भी कहते हैं, बोध कराता है। सांख्य एवं वेदान्त आदि दर्शनों में आत्मा चैतन्यमात्र का बोधक है। इस प्रकार आत्मा शब्द का प्रयोग देह, देही और चैतन्य के अर्थों में हुआ है। यह तो हुई व्यक्तियों के सम्बन्ध में आत्मा पद के प्रयोग की बात, किन्तु जब हम वस्तुओं के सम्बन्ध में आत्मा पद का प्रयोग करते हैं तो हमारा अभिप्राय उसके सार-तत्त्व से होता है। आत्मा पद का प्रयोग व्यक्तियों और वस्तुओं तक ही सीमित नहीं है, सिद्धान्तों एवं विषयों के सम्बन्ध में भी यह प्रचलित है। वहाँ इसका अभिप्राय उस तथ्य से होता है जिसके प्रतिपादन के लिये उस सिद्धान्त-विशेष या विषय-विशेष का निरूपण किया गया होता है।

निरुक्तकार सातत्यार्थक अत् धातु से मनिन् प्रत्यय कर आत्मन् शब्द

१४. काव्यमीमांसा, (बड़ौदा, तृतीय संस्करण, १९३४), तृतीय अध्याय, पृ० ६

व्युत्पन्न करते है जिसका अर्थ है वह तत्त्व जो अनेक विनाशशील तत्त्वों के बीच निरन्तर बना रहता है। इसी अभिप्राय से बाल्य, यौवन एवं जरा आदि विविध अवस्थाओं में निरन्तर बने रहने के कारण देह अथवा व्यक्ति के लिए भी आत्मा शब्द का प्रयोग सार्थक ही है। इसी प्रकार प्रति जन्म बदलते हुए नये शरीरों की तुलना में जन्म-जन्मान्तर में भी विद्यमान रहने वाले जीव अर्थात् सूक्ष्मशरीर को आत्मा कहा गया है। बहुत व्यापक दृष्टि से देखने पर अन्ततोगत्वा नाशवान् बाह्य जड़ वस्तुओं अथवा देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार एवं सूक्ष्मशरीर से भी सर्वथा व्यतिरिक्त चैतन्य तत्त्व को इसलिए आत्मा की संज्ञा दी गई है कि केवल वही एक ऐसा तत्त्व है जो सदा बना रहता है। आत्मा शब्द का प्रयोग व्यापकता के अर्थ में भी हुआ है। शरीर की अपेक्षा अन्तःकरण को इसलिए आत्मा कहा गया है कि वह एक देशीय नहीं होता, अपितु रग-रग में व्याप्त रहता है। इस प्रकार सातत्य एवं विभुत्त्व आत्मा के दो स्वरूपलक्षण बताये गये हैं। ईश्वर में इनकी पराकाष्ठा होने से ही उसे परमात्मा कहा गया है। जीव या प्रत्यक्-चैतन्य की विभुता या उसका सातत्य परमात्मा की अपेक्षा स्वल्प होता है।

काव्य की आत्मा का प्रश्न

काव्य के व्यक्ति के रूप में पुरुष होने का निरूपण ऊपर किया जा चुका है। अतः उसके प्रसंग में भी उसकी आत्मा के होने का प्रश्न हमारे समक्ष स्वत: उपस्थित हो जाता है। काव्य के सन्दर्भ में जब हम आत्मा का विचार करते हैं तो हमारा अभिप्राय प्रत्यक्-चैतन्य, जीव या शरीर नहीं हो सकता। अपितु हमारे मष्तिक में इनसे सर्वथा भिन्न तत्त्व गूँजते रहते हैं। उनकी अभिव्यक्ति हम तीन रुपों में कर सकते हैं—१. काव्य का सारभूततत्त्व, जिसको अंग्रेजी में 'सेन्ट्रल आइडिया' कहेंगे; २. सर्वोत्कृष्ट तत्त्व एवं ३. सर्वव्यापक तत्त्व।

काव्य के सारभूत तत्त्व से हमारा अभिप्राय कथ्य से है। कवि किसी विचार से प्रेरित होकर ही कोई रचना करता है। किन्तु वह विचार उसकी कृति में अन्तर्गूढ़ रहता है। क्योंकि काव्य या कविता में किसी भी तथ्य को जब तक बढ़ा चढ़ाकर न कहा जायगा सजा-संवारकर निरूपित न किया जाय तो वह प्रभावहीन हो जाता है। अतः काव्य के प्रतिपाद्य का ऊहापोह कर ही उसकी आत्मा का बोध हो सकता है।

काव्य के अंगभूत अनेक तत्त्व होते हैं जिनमें शब्द, अर्थ, गुण, दोष,

अलंकार, रस, रीति, वृत्ति एवं प्रवृत्ति आदि हैं। इनमें से कौन सा तत्त्व ऐसा है जिसके बिना काव्य, काव्य नहीं कहा जा सकता अथवा वह बहुत ही अधम कोटि का काव्य माना जाता है जिसे आज के शब्दों में तुकबन्दी कहते हैं। काव्यसमीक्षकों में इस बात को लेकर बड़ा विवाद है। अतएव भारतीय साहित्य-शास्त्र के इतिहास में अलंकार, ध्वनि, रीति, रस एवं गुण प्रभृति को अलग-अलग आत्मा का स्थान दिया गया है। वैचित्र्य को काव्य का सर्वातिशायी तत्त्व मानने वालों ने उन अलंकारों को ही काव्य के सर्वस्व होने का विधान किया है जो वैचित्र्य की सृष्टिमें काव्यजन्य अन्य सभी तत्त्वों में अग्रगण्य हैं। व्यापारवादी आचार्य अलंकारों को मात्र शब्दार्थगत कहकर उन्हें काव्यात्मा का स्थान देने को सहमत नहीं हुए। वक्रोक्ति या रीति को ही उन्होंने काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व कहते हुए आत्मा के रूप में निरूपित किया जिसे आनन्दवर्धन प्रभृति प्रतिपाद्यवादी आचार्यों ने यह कहकर तिरस्कृत कर दिया कि जिस प्रकार वचन, आदान, विहरण एवं उत्सर्ग आदि व्यक्ति में होने वाले व्यापार आत्मा नहीं कहे जा सकते उसी प्रकार रीति या वक्रोक्ति के रूप में निरूपित काव्य-तत्त्व को सर्वोत्कृष्ट कहकर आत्मा का पद नहीं दिया जा सकता। इसी सन्दर्भ में रस और औचित्य को काव्य के सर्वोत्कृष्ट तत्त्व के रूप में काव्यात्मा होने के विधान भी उपलब्ध होते हैं जिनका विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा।

काव्य के सर्वव्यापक तत्त्व से अभिप्राय ऐसे तत्त्व से है जिसकी उपलब्धि काव्य की सभी विधाओं में अवश्यम्भावी हो। काव्यों का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि कवि की विलक्षण प्रतिभा से प्रसूत सभी प्रकार की रचनाओं में अलंकार ध्वनि, एवं रस प्रभृति काव्य के प्रमुख तत्त्वों में से कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं उपलब्ध होता जो समान रूप से सर्वत्र विद्यमान हो। काव्यों का बहुत बड़ा अंश ऐसा है जहाँ न तो कोई ध्वनि है न ही रस। अलंकारों के प्रयोग से रहित रचनाओं की भी कमी नहीं है। ऐसी स्थिति में किसी एक तत्त्व की व्यापक रूप से सर्वत्र उपलब्धि सर्वथा असंभावित है। तथापि आचार्यों ने अपनी बुद्धि की कुशाग्रता का परिचय खूब दिया है जब वे किसी एक तत्त्व को काव्य में सर्वत्र व्याप्त सिद्ध करने में लग जाते हैं। दार्शनिक दृष्टि से जिस प्रकार आत्मा से रहित व्यक्ति निर्जीव कहकर तिरस्कृत कर दिया जाता है उसी प्रकार जिस तत्त्व को हम काव्यात्मा कहते हैं उसके अभाव में काव्य, काव्य ही कैसे कहा जा सकता है। आधुनिक साहित्यशास्त्री काव्य के किसी भी तत्त्व के काव्य की आत्मा होने के सिद्धान्त को कथमपि महत्त्व नहीं देते। इनमें पाश्चात्य एवं पौरस्त्य दोनों ही प्रकार के विद्वान् सम्मिलित हैं।

उनकी दृष्टि से काव्य के सर्वोत्कृष्ट तत्त्व के रूप में तीन बातों का विचार किया जाता है। १. अभिव्यक्ति का प्रकार । २. प्रतिपाद्य या कथ्य और ३. प्रभाव।

कुछ विद्वानों का यह आग्रह निराधार नहीं है कि काव्य का वाङ्मय की अन्य विधाओं से भेद उसके कहने के प्रकार में है, न कि प्रतिपाद्य में। इसको अंग्रेजी में 'फार्म' कहते हैं। उनका तर्क है कि कन्टेन्ट्स (contents) अर्थात् प्रतिपाद्य-विषय की दृष्टि से काव्य एवं वाङ्मय की अन्य विधाओं में कोई मौलिक अन्तर नहीं होता। अन्तर केवल उनकी अभिव्यक्ति के प्रकार में होता है जिसे वे काव्य का स्वरूप (फार्म) कहते हैं। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में रीति-वादी आचार्य वामन का मत इससे कुछ मिलता जुलता है जहाँ पदसंघटना अर्थात् काव्य-रचना के प्रकार को रीति की संज्ञा देकर काव्य की आत्मा कहा गया है। अनुमितिवादी आचार्य महिमभट्ट भी काव्य को बात कहने का एक प्रकार ही मानते हैं। उनका कहना है कि प्रतिपाद्य की दृष्टि से काव्य और शास्त्र में कोई भेद नहीं होता। दोनों का ही लक्ष्य कृत्याकृत्य का विवेक कराना है। दोनों में अन्तर उनके प्रतिपादन की शैली को लेकर ही है। शास्त्रों में जहाँ कठोर नीरस शैली अपनाई गई है वहाँ काव्य का मार्ग सरस होता है। अतएव शास्त्र सर्वग्राह्य नहीं हो पाते जबकि काव्य के द्वारा सरसता पूर्वक कृत्याकृत्य का विवेक सुकुमारमति व्यक्ति भी सहज में ही कर लेता है। विश्वनाथ प्रभृति रसवादी आचार्यों ने भी महिमभट्ट के इस कथन का पूर्ण रूप से समर्थन किया है।

प्रतिपाद्य को काव्य का सर्वस्व मानने वालों का तर्क है कि कवि सामान्य व्यक्ति से भिन्न होता है। वह एक उच्च कोटि का विचारक भी होता है। उसके द्वारा काव्य रचना का प्रयोजन मात्र मनोरंजन या केवल बुद्धिविलास नहीं होता। अपितु वह देश-काल के अनुरूप कुछ नये विचार देता है, जिसे कथ्य या प्रतिपाद्य कहा जाता है। आंग्लभाषा में इसे (contents) कहते हैं। संस्कृत के साहित्य-शास्त्रियों में से आनन्दवर्धन इस मत के पूर्ण समर्थक प्रतीत होते हैं। इनका रस को अंगी कहते हुए भी ध्वनि को काव्य की आत्मा कहना सिद्ध करता है कि इनका विशेष विधान प्रतिपाद्य को लेकर ही है जिसे वे व्यङ्ग्य कहते हैं। प्रतिपाद्य को ही अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए कवि व्यञ्जना की सरणि अपनाता है। उनकी दृष्टि में व्यञ्जना कहने का एक प्रकार ही नहीं है अपितु कथ्य को मार्मिक बनाने का भी प्रकार है। इसलिए व्यञ्जनीयता को ही वे काव्य का सर्वस्व कहना चाहते हैं। उनका तर्क है कि प्रतीयमानता के संस्पर्श के बिना काव्य में काव्यता नहीं आती। यहाँ तक कि अलंकारों के

भार से लदी हुई रचना में भी काव्यत्व का आधान प्रतीयमान के संस्पर्श से ही सम्पन्न होता है—

मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैव भूषा लज्जेव योषिताम् ॥[१५]

प्रभाव की दृष्टि से भी काव्य के महत्त्व को आंका जाता है। काव्य को कला की कोटि में रखने का अभिप्राय ही यही है कि उसका मूल्यांकन चित्र, संगीत, नृत्य, एवं मूर्ति आदि कलाओं के समान प्रमाता को प्रभावित करने की क्षमता के आधार पर कलाओं की प्रभावकारिता सवयंसिद्ध है। इनमें सहृदय-हृदय का आवर्जन करने की विलक्षण शक्ति होती है जिसका भान हमें सहज रूप से नहीं होता। हम किसी कलाकृति से यह विचार कर प्रभावित नहीं होते कि उसमें उस कला-विशेष के विवेच्यमान विविध तत्त्व किस मात्रा में उपलब्ध होते हैं। अपितु इन तत्त्वों का भान हमें तब होता है जब हम उसकी प्रभावकारिता के कारण का विश्लेषण करने को उद्यत होते हैं। उदाहरणतः किसी काव्य को पढ़कर या नाट्य को देखकर उसकी उत्तमता के अनुरूप हम अनायास उससे प्रभावित हो उठते हैं और उसे उत्तम या अति उत्तम की संज्ञा सहसा ही दे डालते हैं। अनन्तर जब हम उसकी उत्तमता का विश्लेषण करने लगते हैं तो उसमें विहित नाटकीय या काव्यसंबन्धी विविध तत्त्वों का ऊहापोह करते हैं। उत्तम कोटि के काव्य से प्रभावित होना और उसमें ध्वनि का विवेचन करना दो अलग अलग बातें हैं। ऐसा सर्वथा सम्भव है कि हम रचना से तो प्रभावित हों किन्तु उसमें निहित गुण, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस तथा ध्वनि का विवेचन न कर पायें। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों में रस-सिद्धान्त को इस दृष्टि से समझा जा सकता है। रस के स्वरूप का निरूपण करते हुए जो कहा गया है कि चमत्कार ही रस का सार है जिसका अनुभव सर्वत्र काव्य में आश्चर्य के रूप में होता है उसका यही आशय है—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ।
तस्मादभुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥[१६]

रसानुभूति की अवस्था का निरूपण करते हुए यह भी कहा गया है कि उस समय व्यक्ति विगलित-वेद्यान्तर हो जाता है जिसका अर्थ यह है कि उस समय

१५. ध्वन्यालोक ३।३७
१६. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद ।

वह उस विशेष अनुभव के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्रकार का अनुभव नहीं करता। वस्तुतः वह अपनी सुध-बुध खो बैठता है जिसे आत्म-विस्मृति की दशा कहा गया है जो काव्य के प्रभाव की स्थिति का निरूपण मात्र है। सहृदय-हृदय का आवर्जन जितनी मात्रा में होता है उतना ही अधिक वह व्यक्ति काव्य से प्रभावित माना जाता है। भारतीय परम्परा इसे मानव चित्त की रस-दशा कहती है तथा विद्युद्गर्जन, उल्कापात या जलप्लावन की घटनाओं से होने वाले प्रभाव से काव्य की प्रभावकारिता को सर्वथा पृथक् माना गया है। अतएव उसकी संज्ञा रस है। इसका विशद विवेचन रस की काव्यात्मकता के प्रसंग आगे किया जायेगा।

रस को काव्यात्मता की प्राप्ति

भरतनाट्यशास्त्र में रस को नाट्य की आत्मा तो कहीं नहीं कहा गया है किन्तु उसे सभी भावों का मूल तथा नाट्य रूपी वृक्ष का बीज अवश्य माना गया है—

यथा बीजात् भवेद्वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः॥[१७]

भामह की कृति में भी कोई ऐसा विवेचन नहीं मिलता कि उन्होंने काव्य में रस के स्थान को बहुत अधिक महत्त्व दिया हो। किन्तु दण्डी ने अलंकारों को काव्यजन्य शोभा का आधायक कहते हुए भी उनके द्वारा काव्यार्थ में रस का निषिचन आवश्यक माना—

कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चतु।[१८]

इस प्रकार अलंकारवादी आचार्यों के द्वारा किये गये रसविषयक विवेचनों ने संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में रस के महत्त्वपूर्ण स्थान की भूमिका का काम किया। पर रस के काव्यात्मा होने के विधान का सूत्रपात हमें आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक से प्रतीत होता है। ग्रन्थ के आरम्भ में यद्यपि उन्होंने स्पष्ट रूप से ध्वनि के काव्य की आत्मा होने का विधान किया है तथापि काव्यामाविषयक अन्य प्रसंगों के विश्लेषण से प्रतीत होता है कि वे रसध्वनि को ही काव्यात्मा का स्थान देना चाहते हैं। लेकिन काव्य के सन्दर्भ में वे आत्मा पद का प्रयोग साररूप या सहृदयश्लाध्य अर्थ के लिए करते हैं।

---

१७. नाट्यशास्त्र ६।३८
१८. काव्यादर्श १।६२

योऽर्थः सहृदयश्लाध्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।[19]

में प्रयुक्त काव्यात्मा पद की व्याख्या करते हुए वे स्वयं कहते हैं—काव्यस्य हि ललितलोलितलोचनचारुणः शरीरस्येवात्मा सारूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ ।

इसी प्रकार—

काव्यास्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥[20]

में प्रयुक्त काव्यस्यात्मा पद की वृत्ति लिखते हुए स्पष्ट रूप से कहते हैं—विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स **एवार्थः सारभूतः ।**

यहाँ समस्या यह है कि 'स एव अर्थः' से किसका ग्रहण किया जाय? 'सर्वनामानः पूर्वपरामर्शिनो भवन्ति' इस न्याय से 'सः' पद से उक्त कारिका से पूर्व उल्लिखित ही किसी विषय का परामर्श होना चाहिए । इस प्रकार इसके पूर्व की चतुर्थ कारिका में उक्त 'प्रतीयमान' का ही 'सः' पद से परामर्श होना समुचित है । ध्वन्यालोक के आरम्भिक इस अंश में प्रतीयमान अर्थ की सत्ता को सिद्ध करने का ही प्रयत्न ग्रन्थकार ने किया है । फलतः 'स एव अर्थः' से प्रतीयमान अर्थ का ही बोध होना चाहिए । लेकिन प्रकृत कारिका में क्रौञ्च की जोड़ी के बिछुड़ने से उद्‌बुद्ध शोक को श्लोक के रूप में प्रकट होने की बात कही गई है जिसका साक्षात् सम्बन्ध रस से है । ध्वन्यालोक के एक मात्र प्राचीन टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त इस विषय में बहुत ही सतर्क हैं । वे स्पष्ट रूप से रस के पक्षपाती हैं । उनका कहना है कि यहाँ प्रसंग प्रतीयमान अर्थ का ही है । अतः 'सः' सर्वनाम से प्रतीयमान-सामान्य का ही ग्रहण होना चाहिए । पर कारिका में उल्लिखित ऐतिहासिक घटना के आधार पर यहाँ प्रतीयमान के तृतीय भेद 'रस-ध्वनि' का ही ग्रहण उचित है । उनके अनुसार तो मात्र रस को ही काव्यात्मा होना चाहिए । वस्तु एवं अलंकार ध्वनियों का भी पर्यवसान चूँकि रस में ही हो होता है इसीलिए उन्हें वाच्य से उत्कृष्ट माना गया है । पर अन्ततोगत्वा इनका भी पर्यवसान रस में ही हो जाने से वस्तुतः रस ही काव्य की आत्मा का स्थान ग्रहण करता है । अभिनवगुप्त की दृष्टि से ध्वनि को काव्य की आत्मा कहने का भी यही अभिप्राय है—

१९. ध्वन्यालोक १।२
२०. ध्वन्यालोक १।५

'स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम्। इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थार्थबलाच्च तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवसानात् इतिवाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तः ।

यहाँ रस की काव्यात्मता के विधायक दो तर्क दिये गये हैं—इतिहासबलात्, एव प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थार्थबलात् । इतिहास से यहाँ अभिप्राय घटना-विशेष से है । उक्त कारिका में क्रौञ्चवध की जिस घटना का उल्लेख किया गया है उसने संस्कृत में काव्यात्मक साहित्य को जन्म देकर साहित्य के क्षेत्र में एक नये इतिहास का निर्माण किया है। घटना करुणभाव से ओतप्रोत है । अतः स्पष्टतया रस का विषय है । इसलिए दृष्टान्त के अनुसार 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' का अभिप्राय रस ही है । दूसरा तर्क प्रक्रान्त-वृत्ति ग्रन्थ से सम्बन्ध रखता है । आचार्य अभिनवगुप्त यह भली भांति समझ रहे हैं कि उकके द्वारा प्रस्तुत 'स एवार्थः' की उक्त रसपरक व्याख्या तब तक स्वीकार्य नहीं होगी जब तक उसका सामञ्जस्य मूल ग्रन्थ ध्वन्यालोक से न स्थापित कर दिया जाय। अतः वे अपने पक्ष की पुष्टि ध्वन्यालोक की वृत्ति से करना चाहते हैं जहाँ लिखा है—'प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभाव-मुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्' ।

किन्तु मूलग्रन्थकार आनन्दवर्धन का आशय टीकाकार अभिनवगुप्त से सर्वथा भिन्न है । वह तो ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध करने का संकल्प ले चुके हैं । अतः यहाँ केवल रस को काव्य की आत्मा कहना उनके लिए वदतोव्याघात होगा । प्रकृत कारिका में काव्यात्मा के दृष्टान्त के लिए केवल रस को ही उदाहृत करने से जो भ्रान्ति सम्भावित है कि केवल रसध्वनि के काव्यात्मा होने से वस्तु एवं अलंकार ध्वनियों के साथ साथ ध्वनि-सामान्य के काव्यात्मा होने के सिद्धान्त का निराकरण हो जाता है, सम्भवतः उसी को मन में रख कर कारिका की वृत्ति लिखते हुए मानो उसके निवारणार्थ स्पष्टीकरण देते हैं कि यद्यपि प्रतीयमान अर्थात् ध्वनि के अन्य भेद भी काव्यात्मा के रूप में निरूपित होते हैं पर यहाँ रस एवं भाव के द्वारा ही जो उसे उदाहृत किया गया है उसका कारण तीनों प्रकार की ध्वनियों में रसा-दिध्वनि की प्रधानता ही है । इसीलिए ध्वनिकार ने यहाँ उद्धृत रस को काव्यात्मा का उपलक्षण कहा है ।

अभिनवगुप्त ने वस्तुतः वृत्ति ग्रन्थ की अपेक्षा क्रौञ्चवध की घटना के कारिका में उल्लेख को ही अधिक महत्त्व दिया है । अतः अवसर पाकर रस

२१. ध्वन्यालोक, कारिका १।५ पर लोचन ।

की काव्यात्मता का पुनः पुनः प्रतिपादन करते हुए वे कहते हैं कि उक्त क्रौञ्च-वध की घटना के काव्यात्मक निरूपण से सहृदय सामाजिक के हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान शोक ही तदनुकूल विभावादि से उद्‌बुद्ध होकर करुण रस के रूप में आस्वादित होता है। अतः वही काव्य की आत्मा है। ध्वनिकार ने कारिका की वृत्ति में जो कहा था कि आत्मा का अभिप्राय सारभूत अर्थ है, उसका भी समाधान देते हुए अभिनवगुप्त रस को ही काव्य का सारभूत स्वभाव बताते हैं। उनकी दृष्टि में रस को काव्य का सारभूत अर्थ कहना एक प्रकार से भिन्न शब्द के प्रयोग के द्वारा कथन में विलक्षणता लाना मात्र है—

एवं चर्व्यमाणोचितशोकस्थायिभावात्मककरुणसमुच्छलनस्वभावात् स काव्यास्यात्मा सारभूतस्वभावोऽपरशाब्दवैलक्षण्यकारकः।[२२]

इतना ही नहीं अभिनवगुप्त तो उक्त ध्वनिकारिका में प्रयुक्त 'स एवार्थः' के 'एव' पद से रस के अतिरिक्त काव्य के अन्य सभी तत्त्वों के आत्मा होने के सिद्धान्त का सर्वथा निराकरण करते हुए कहते हैं—स एवेत्येवकारेणेदमाह नान्य आत्मेति।[२३]

अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती, पर आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्य भट्टनायक की मान्यता थी कि वाङ्मय की कुछ विधायें ऐसी हैं जिनमें केवल शब्द की प्रधानता होती है। इसके विपरीत कुछ अन्य विधायें होती हैं जहाँ अर्थतत्त्व की ही प्रधानता रहती है। शब्द सर्वथा गौण रहते हैं। काव्य की विधा उक्त दोनों प्रकारों से सर्वथा भिन्न इसलिए होती है कि वहाँ न शब्द की प्रधानता होती है न अर्थ की, अपितु मात्र व्यापार की—

शब्दप्रधानमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत्॥[२४]

आचार्य अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के उक्त मत को उद्‌धृत कर उसका खण्डन किया है। इनका तर्क है कि वह व्यापार जिसकी प्रधानता का प्रतिपादन भट्टनायक ने किया है यदि व्यञ्जनात्मक एवं आस्वादनात्मक है तो वह रस से भिन्न कोई अन्य तत्त्व नहीं हो सकता। किन्तु यदि अभिधा को ही उस व्यापार का स्थान देना अभिप्रेत है तो वह सर्वथा अस्वीकार्य है। यही

२२. ध्वन्यालोक, लोचन १।५
२३. वही १।५
२४. ध्वन्यालोक, लोचन १।५

नहीं, मात्र ध्वनन-व्यापार से भी काव्य की आत्मा का उसी प्रकार ग्रहण नहीं होता जिस प्रकार आत्मतत्त्व के विद्यमान रहते हुए भी सबको जीव नहीं कहते—

तेन सर्वत्रापि ध्वननसद्भावेऽपि न तथा व्यवहारः। आत्मसद्भावेऽपि क्वचिदेव जीवव्यवहारः।

अभिनवगुप्त के उक्त कथन का मेल ध्वनि एवं रस के साथ बिठाने पर प्रतीत होता है कि वे ध्वनन अर्थात् व्यञ्जना के रूप में प्रतीयमानता को वस्तुओं एवं व्यक्तियों में निहित आत्मतत्त्व के समान मानते हैं तथा रस से युक्त होने को जीव के स्थान पर व्यवहार करते हैं। पर दार्शनिकदृष्टि से विचार करने पर अभिनवगुप्त के द्वारा प्रस्तुत काव्यात्मा विषयक तर्क विपरीत ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि ध्वनन के रूप में ध्वनि को वे आत्मा का स्थान प्रदान करते हैं और रस को जीव का। फलतः व्यापक होने से ध्वनि के काव्यात्मा होने का सिद्धान्त ही रस की अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत हो जाता है। लोचनकार ने ध्वन्यालोक की 'सरस्वती स्वादु' इत्यादि षष्ठ कारिका की व्याख्या में प्रतीयमान की काव्यात्मता का निरूपण स्वयं किया है—

एवमितिहासमुखेन प्रतीयमानस्य काव्यात्मतां प्रदर्श्य स्वसंवित् सिद्धमप्येतदिति दर्शयति सरस्वतीति।[२५]

इसके अनन्तर ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत की तेरहवीं कारिका में प्रयुक्त 'काव्यविशेषः' पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यहाँ काव्य से गुणालंकार से युक्त शब्दार्थमय उस रचना का ग्रहण होता है जिसकी आत्मा ध्वनि है। यही नहीं चारुत्व प्रतीति को भी वे काव्य की 'आत्मा स्वीकार करने में नहीं हिचकते। उनकी दृष्टि में चारुता और रस में नाम मात्र का भेद है। काव्य के प्रसंग में तज्जन्य चारुता की प्रतीति प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से न होकर शब्दार्थ के द्वारा ही होती है अतः उसे काव्यात्मा मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं।

काव्यग्रहणात् गुणालंकारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनिलक्षण आत्मेत्युक्तम्। ...यच्चोक्तं चारुत्वप्रतीतिर्हि काव्यस्यात्मा स्यात्, इति तदङ्गीकुर्म एव। नाम्नि खल्वयं विवाद इति। यच्चोक्तं चारुणः प्रतीतिर्यदि काव्यास्यात्मा प्रत्यक्षादिप्रमाणादपि सा भवन्ती तथा स्यात् इति। तत्र शब्दार्थमय-

---

२५. ध्वन्यालोक, लोचन १।६

काव्यात्माभिधानप्रस्तावे क एष प्रसङ्ग इति न किञ्चिदेतत् ।[२६]

इस प्रकार भरत से प्रारब्ध रस-तत्त्व के विवेचन की परम्परा में ध्वनि-सिद्धान्त के आविर्भाव के साथ साथ रस को काव्यात्मा का स्थान प्राप्त हो जाता है जिसकी स्वीकृति राजशेखर की काव्यमीमांसा में रस को काव्य-पुरुष की आत्मा का स्थान देकर हुई है। किन्तु उसे पूर्ण प्रतिष्ठा तो अभिनवगुप्त में ही आकर मिली है। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की काव्यात्मा विषयक मान्यताओं में यद्यपि पर्याप्त अन्तर है तथापि उत्तरवर्ती आचार्यों के ऊपर काव्यात्मा के विषय में आनन्दवर्धन की अपेक्षा अभिनवगुप्त का ही प्रभाव अधिक पड़ा है। ध्वनि-विरोधियों एवं अभिनवगुप्त की मान्यताओं में काव्य की आत्मा के विषय में जो एकरूपता पायी जाती है वह अपने आप में एक विलक्षण बात है। राजशेखर, भट्टनायक, धनिक, कुन्तक, महिमभट्ट एवं भोज सभी अभिनवगुप्त के समान रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं। फिर भी इन सबका काव्यात्मा का सिद्धान्त परस्पर विलक्षण है जिसका निरूपण आगे किया जायेगा।

आनन्दवर्धन ने रस को व्यङ्ग्य कहा पर उसे ही काव्य की आत्मा का स्थान देना उनके लिए संभव नहीं था। अभिनवगुप्त ने ध्वनिसिद्धान्त के प्राणभूत तत्त्व व्यञ्जना का आश्रय लेकर ही ध्वनि की अपेक्षा रस को ही काव्य की आत्मा होने का विधान किया। उनका तर्क है कि काव्यत्व का आधायक तत्त्व व्यञ्जनीयता के होने में कोई विसंवाद नहीं पर काव्य की आत्मा तो वही तत्त्व हो सकता है जो विशुद्ध रूप से व्यञ्जनीय ही हो। वस्तु और अलंकार ध्वनियाँ इस कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। वे कहीं व्यङ्ग्य तो कहीं वाच्य भी होती हैं। चूँकि रस ही एक ऐसा काव्य तत्त्व है जो सर्वथा व्यङ्ग्य ही होता है वाच्य या लक्ष्य कदापि नहीं अतः यही उक्त कसौटी पर खरा उतरता है। इसीलिये काव्य की आत्मा का स्थान रस ही ग्रहण कर सकता है। रस की काव्यात्मता का यही दर्शन है जिसे उत्तरवर्ती सभी ध्वनि-वादियों ने भी सहर्ष स्वीकार किया है। मम्मट, विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ इसके साक्षी हैं।

रस के काव्यात्मता की विविध व्याख्यायें

आचार्य अभिनवगुप्त के अनन्तर रस के काव्य की आत्मा होने की एक प्रकार से सार्वभौम स्वीकृति मिल गई। किन्तु रस की काव्यात्मता का एक ही

---

२६. ध्वन्यालोक, लोचन १।१३

अर्थ नहीं समझा गया। यही नहीं उसमें समय समय पर अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तियां खड़ी हुईं जिनके समाधान में काव्यात्मा की नई नई व्याख्याएं भी की गयीं। यहाँ हम उन्हीं का ऊहापोह करेंगे।

(क) रस ही काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व

अलंकारवादी आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट एवं रुद्रट की कृतियों में काव्य के गुणालंकाररीति प्रभृति तत्त्वों में रस को विशिष्ट स्थान दिया गया था जिसकी अभिव्यक्ति आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त में हुई है जहाँ रस को काव्य का अंगी तत्त्व कहा गया है।

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः।।[२७]

ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार रस का निरूपण अंग के रूप में भी उपलब्ध होता है। ऐसे स्थलों में जहाँ वस्तु या अलंकार के रूप में वाक्यार्थ की ही प्रधानता होती है वहाँ रस अङ्गी न होकर वाक्यार्थ के अंग के रूप में ही निरूपित होता है। भामह प्रभृति आलंकारिकों ने उसे रसवत् आदि अलंकारों की संज्ञा दी है पर ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार इनको गुणीभूतव्यङ्ग्य कहा जाता है—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः॥[२८]

इसीलिए आनन्दवर्धन ने गुण, अलंकार, रीति प्रभृति सभी तत्त्वों की व्यवस्था रस को दृष्टि में रखकर करने का विधान किया है। कविव्यापार का मुख्य विषय उन्होंने रस को ही बताया है तथा कवियों को सम्बोधित करते हुए कहा है कि रस-तत्त्व से रहित प्रबन्ध की रचना करने से न करना अधिक श्रेयस्कर है—

मुख्या व्यापारविषया सुकवीनां रसादयः।
तेषां निबन्धने भाव्यैस्तैः सदैवाप्रमादिभिः॥
नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोपऽशब्दो महान् कवेः।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः॥[२९]

ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार रसध्वनि के रूप में ही रस काव्य की आत्मा का स्थान ग्रहण करता हैं और रसादि ध्वनि तभी होते है जब वे अङ्गी

२७. ध्वन्यालोक २।३
२८. बही २।४
२९. ध्वन्यालोक, का० ३।१८, १९ पर परिकर श्लोक।

अर्थात् प्रधान रूप में व्यङ्ग्य हों। वस्तु, अलंकार एवं रस में से कौन प्रधान है कौन अप्रधान इसके निर्णय की भी सरणि ध्वनिकार ने स्वयं व्यवस्थापित की है और वह है चारुत्व चे उत्कर्ष का निबन्धन। उनका कहना है कि जिस तत्त्व में चारुत्व का अधिक उत्कर्ष होगा उसी को प्रधान मानना चाहिए—

चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।[30]

काव्यतत्त्व की सर्वोत्कृष्टता को आनन्दवर्धन ने सारभूत अर्थ के रूप में भी निरूपित किया है। उनकी दृष्टि में सहृदय-श्लाघ्य अर्थ ही साररूप में स्थित होकर काव्यातमा का स्थान ग्रहण करता है जिससे काव्य में चारुता का आधान होता है—

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थः तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ।[31]

आनन्दवर्धन की ही सरणि पर किन्तु उनसे भिन्न रूप में भोज ने रस को काव्यजन्य सौन्दर्य में अतिशय का आधान करने वाले तत्त्वों में प्रकृष्ट कहा है। उनके अनुसार काव्य-रचना के दोषों से रहित, गुणों से समन्वित एवं अलंकारों से विभूषित होने पर भी उसमें सौभाग्यातिशय का आधान तब तक नहीं हो सकता जब तक रस-तत्त्व का योग न हो—

निर्दोषस्य गुणवतोऽलंकृतस्य च काव्यशरीरस्य कामिनीशरीरस्येव सौभाग्यातिशयनिष्पत्तौ रसावियोग एव प्रकृष्ट उपायो गीयते।[32]

राजशेखर ने जो काव्य के गुणालंकारादि तत्त्वों को काव्यपुरुष के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के रूप में निरूपित करते हुए रस को उसकी आत्मा होने का विधान किया था उसका रहस्य काव्य-तत्त्वों में रस की विशिष्टता ही है। उन्होंने यद्यपि विस्तारपूर्वक इस तथ्य का निरूपण नहीं किया है तथापि उनके विवेचन का औचित्य अन्य किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता। यह कहना बहुत समुचित नहीं होगा कि उन्होंने आनन्दवर्धन के निरूपण से ही प्रभावित होकर रस को काव्यात्मा के घटक होने की अपेक्षा साक्षात् आत्मा के रूप में ही विहित कर दिया। राजशेखर आनन्दवर्धन के पूर्ण रूप से तो नहीं पर अंशतः समसामयिक थे। इन्होंने काव्यमीमांसा में आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त का किसी भी रूप में उल्लेख नहीं किया है। तथापि यत्र तत्र आनन्द की

---

३०. ध्वन्यालोक, का० १।१३ पर वृत्ति।

३१. ध्वन्यालोक, का० ३।२ पर वृत्ति।

३२. शृङ्गारप्रकाश ११, मैसूर (१९६३), पृ० ४२९

मान्यताओं का खण्डन इनकी कृति में उपलब्ध होता है। रस को काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व स्वीकार करते हुए भी उसे काव्यात्मा का स्थान न देना उनकी दृष्टि में ध्वनि नामक नये तत्त्व को ही काव्य में विशेष महत्त्व देने का आनन्दवर्धन का दुराग्रहमात्र है। अभिनवगुप्त तो रस के ही काव्य की आत्मा होने की घोषणा करते हैं। ध्वनि और रस के बीच वह आत्मा एवं जीव का सम्बन्ध मानते हैं। ध्वनि आत्मा के समान काव्य के अङ्गप्रत्यङ्ग रूपी सभी तत्त्वों में इसलिए व्याप्त रहता है कि काव्य में व्यञ्जनीयता अनिवार्य है। रस तो जीव के समान है जो देही के समान काव्य का अङ्गी है। अभिनवगुप्त का रूपकात्मक यह विवेचन आत्मा के सिद्धान्त के अनुरूप नहीं बैठता। उन्हें तो उक्त व्यवस्था के अनुसार ध्वनि को ही काव्यात्मा एवं रस को काव्यजीवित कहना चाहिये था। अथवा रस को यदि वह जीवात्मा कहना चाहते हैं तो ध्वनि को उन्हें परमात्मा के रूप में निरूपित करना चाहिए था जो जीव एवं अजीव सब में समान रूप से व्याप्त होता है।

आलंकारिक सरणि के व्यवस्थापक आचार्य मम्मट ने ध्वनि को काव्य की आत्मा न कहकर रस को ही काव्यात्मा के रूप में विवेचित किया है। आचार्य आनन्दवर्धन की तरह ये भी रस को काव्य के अङ्गी तत्त्व के रूप में ही निरूपित करते हैं। गुणों की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार शौर्य आदि गुण आत्मा के ही धर्म होते उसी प्रकार माधुर्य आदि काव्यगुण काव्यात्मा रस के धर्म होते हैं—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥[33]

वे रसादिध्वनि के अलंकार्य होने का भी विधान करते हैं। आनन्दवर्धन ने ध्वनि को सामान्य रूप से अलंकार्य कहा था। मम्मट ने इस संज्ञा का प्रयोग रस, भाव, रसाभास एवं भावशान्ति आदि के लिए किया है—

रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।
भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः ॥[34]

काव्यप्रकाश में रस के लिए 'मुख्य' पद का प्रयोग भी अनेक बार हुआ है। चतुर्थ उल्लास में भावशान्ति आदि का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने

---

३३. काव्यप्रकाश ८।६६
३४. वही ४।२६

कहा है कि यद्यपि रस ही काव्य का 'मुख्य-तत्त्व' है तथापि भावशान्ति आदि भी कभी कभी काव्य के अङ्गी के रूप में निरूपित हो जाते हैं—

मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ।[३५]

दोषसामान्य का लक्षण करते हुए मम्मट ने रस को ही काव्य का मुख्य तत्त्व होने का विधान किया है। इनका कहना है कि दोष वह है जो मुख्यार्थ का अपकर्ष करे। काव्य में जिस अर्थ का मुख्य रूप से प्रतिपादन किया गया होता है वह है रस—

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।[३६]

यहाँ रस की मुख्यता का विश्लेषण करते हुए उसे 'दूसरे की इच्छा के अधीन इच्छा का विषय न होना' बताया है जिसका अभिप्राय सुखरूपी पुरुषार्थ में निहित होने से सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-रूप रस होता है। इस प्रकार मम्मट जिस रस के काव्यात्मा होने का विधान करते हैं उसे ही कहीं **अङ्गी**, कहीं **अलंकार्य** तो कहीं **मुख्य** पदों से निरूपित किया है जिसे हम मम्मट की दृष्टि से रस के काव्यात्मा होने के हेतु के रूप में निम्न प्रकार से उपन्यस्त कर सकते हैं।

१. रस काव्य की आत्मा है क्योंकि वह गुण एवं अलंकार आदि काव्य के अन्य तत्त्वों की अपेक्षा मुख्य अर्थात् प्रधान है।

२. रस काव्य की आत्मा है क्योंकि उपमा, रूपक एवं दीपक आदि अलंकारों के द्वारा वही अलंकार्य है।

३. रस काव्य की आत्मा है क्योंकि वस्तु, अलंकार एवं रस में से रस ही अङ्गी है वस्तु एवं अलङ्कार उसके अङ्गरूप हैं।

(ख) रस, काव्य का असाधारण धर्म

रस को काव्य की आत्मा कहने का एक दूसरा आधार उसका काव्य का असाधारण धर्म होना है। गुण, अलङ्कार, रीति एवं वक्रोक्ति आदि काव्य के अन्य तत्त्व उसके साधारण धर्म हैं जो लोकोक्ति, चित्र एवं प्रहेलिका आदि काव्येतर विषयों में भी पाये जाते हैं। रस ही एक ऐसा तत्त्व है जिसका आश्रय दृश्यश्रव्यात्मक उभयविध काव्य होता है। दशरूपककार ने नृत्त और नृत्य के अभिनयात्मक नाट्य के भेद का विवेचन ही इसी आधार पर किया है कि जहाँ नृत्त और नृत्य ताल-लय एवं भावों पर आश्रित होते हैं वहाँ नाट्य

---

३५. काव्य प्रकाश ४।३७

३६. वही ७।४९

रसाश्रय होता है—

> रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम् ।
> अन्यद्भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं ताललयाश्रयम् ॥[३७]

इस प्रकार रस काव्य को उसके सजातीय विषय नृत्य एवं प्रहेलिका आदि तथा विजातीय विषय व्याकरण एवं दर्शन आदि से पृथक् करता हुआ उसका असाधारण धर्म उसी प्रकार बन जाता है जिस प्रकार गन्ध पृथ्वी को उसके सजातीय जल, तेज, वायु एवं आकाश आदि द्रव्यों से तथा विजातीय गुण, कर्म, सामान्य आदि पदार्थों से पृथक् करता हुआ उसका असाधारण धर्म कहलाता है। गुण एवं अलंकार आदि के साथ काव्य की असाधारणधर्मता इसलिए नहीं बन पाती कि रस के अभाव में केवल उन्हीं की सत्ता से रचना में काव्यता का आधान नहीं हो पाता। जबकि उन सबके अभाव में केवल रस की स्थिति से भी उत्तम कोटि के काव्य की सुतरां उपलब्धि होती है।

काव्य में रस की इस स्थिति को काव्यशास्त्रियों ने बहुत पहले ही पहचान लिया था। अग्निपुराण का यह विधान इस दृष्टि से कितना सटीक है कि काव्य में यद्यपि सर्वत्र वाणी की विदग्धता ही प्रधान रूप से लक्षित होती है तथापि उसका जीवनाधायक तत्त्व तो रस ही है जिसके बिना काव्य, काव्य नहीं हो सकना—

> वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।[३८]

कविराज विश्वनाथ ने काव्य के तत्त्वों का स्वरूपाधायक एवं उत्कार्षाधायक दो रूपों में वर्गीकरण किया है। उनकी दृष्टि में रस ही एक मात्र ऐसा तत्त्व है जिसे स्वरूपाधायक कहा जा सकता है। गुण एवं अलङ्कार आदि अन्य सभी काव्यतत्त्व काव्य के रसात्मक स्वरूप में उत्कर्ष का आधान करते हैं। अतः वे उत्कर्षाधायक हैं। रस की आसाधारणधर्मता उसके काव्य के स्वरूपाधायक होने का अधिकारी है।

साहित्यदर्पणकार ने स्वरूपाधायकता के सिद्धान्त के आधार पर रस की काव्यात्मता का निर्धारण करते हुए रीति और ध्वनि के काव्यात्माविधायक पक्षों का सर्वथा निरसन किया है। उनके अनुसार संघटना रूप होने से रीति तो अवयवसंस्थान के समान है अतः वह स्वरूपाधायक तत्त्व कैसे हो सकती

---

३७. दशरूपक १।७,६

३८. अग्निपुराण ३३६।३३

है और जो तत्त्व स्वरूपाधायक नहीं है वह आत्मा भी नहीं हो सकता—

"यत्तु वामनेनोक्तं "रीतिरात्मा काव्यस्य" इति तन्न, रीतेः संघटनाविशेषत्वात्, संघटनायाश्चावयवसंस्थानरूपत्वात्, आत्मनश्च तद्भिन्नत्वात् ।[३९]

आनन्दवर्धनप्रोक्त ध्वनि की काव्यात्मता का खण्डन करने में विश्वनाथ कविराज का तर्क है कि वस्तु. अलङ्कार एवं रस नामक ध्वनि के तीनों रूप स्वतंत्ररूप से यदि काव्यात्मा हैं तो प्रहेलिका आदि में भी वस्तु एवं अलङ्कारों की उपलब्धि होने से काव्यता अतिव्याप्त हो जाएगी । केवल रस को काव्य की आत्मा मानने पर यही विप्रतिपत्ति उठती है कि विशुद्धरूप से वस्तु एवं अलङ्कार व्यङ्ग्य के वे सभी स्थल काव्य होने से वंचित रह जायेंगे, क्योंकि काव्य का असाधारण धर्म रस ही वहाँ नहीं रहेगा जो उसमें काव्यता के स्वरूप का आधान करता है । इसका समाधान करते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि वस्तु एवं अलङ्कार ध्वनियों के वे ही स्थल काव्य होने के लिए उपयुक्त होते हैं जहाँ रस का स्पर्श किसी न किसी रूप में अवश्य होता है। अन्यथा 'देवदत्तो ग्रामं याति' इस वाक्य से उसके भृत्य के द्वारा उसके अनुसरण करने की बात की प्रतीति व्यङ्ग्य रूप से होने से वहाँ भी काव्यात्मा अतिव्याप्त होने लगेगी जो अभीष्ट नहीं है । इसलिए रचना में काव्यता के आधान के लिए रस का किसी न किसी रूप में संस्पर्श अनिवार्य है, यही मानना समुचित है । अतएव साहित्यदर्पणकार ने रसात्मक वाक्य के ही काव्य का निष्कृष्ट लक्षण होने का विधान किया है—

वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।[४०]

काव्य के सन्दर्भ में आत्मा पद का अर्थ करते हुए वे कहते हैं कि साररूप होने से जो तत्त्व काव्य में जीवन का आधान करता है वही आत्मा है जिसके बिना रचना को काव्य के रूप में कथमपि स्वीकारा नहीं जा सकता—

रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य तेन विना काव्यत्वानङ्गीकारात् ।[४१]

(ग) रस, काव्य का संज्ञी

रस की काव्यात्मता का एक आधार यह भी है कि काव्य को काव्य संज्ञा

---

३९. साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद ।

४०. वही १।३

४१. वही, प्रथम परिच्छेद ।

रस के ही कारण मिली है अतः काव्य और रस में संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध है। आचार्य आनन्दवर्धन ने जिस ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा था उसका निरूपण उन्होंने काव्य-विशेष के रूप में किया है न कि काव्य-सामान्य के रूप में—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥[४२]

आचार्य आनन्दवर्धन ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के रूप में ध्वनि से पृथक् भी काव्यता को स्थान दिया है। उनकी दृष्टि से काव्य के दो रूप होते हैं एक वह जहाँ व्यङ्ग्य प्रधान हो तथा दूसरा जहाँ व्यङ्ग्य गौण। पहले को ही ध्वनि तथा दूसरे को गुणीभूतव्यङ्ग्य की संज्ञा दी है—

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमित्यभिधीयते ॥[४३]

इस प्रकार उनके विवेचन के आधार पर काव्य-सामान्य और काव्य-विशेष के दो प्रकार बन जाते हैं। काव्य-सामान्य के लिए प्रतीयमान की जिस किसी भी रूप में सत्ता मात्र अपेक्षित है जबकि व्यङ्ग्य के प्रधान होने पर ही उसे काव्य-विशेष ध्वनि की संज्ञा प्राप्त हो सकती है। आनन्दवर्धन का कहना है कि काव्य का वह प्रकार संभव ही नहीं जहाँ प्रतीयमान अर्थ के संस्पर्श से चारुता का आधान न होता हो। उनकी दृष्टि में काव्यता का यही परम रहस्य है जिसका ऊहापोह समीक्षकों को सम्यग् रूप से करना चाहिए—

सर्वथा नास्त्येव हृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारः, यत्र प्रतीयमानार्थ-संस्पर्शेन न सौभाग्यम्। तदिदं काव्यरहस्यं परममिति सूरिभिर्विभावनीयम्।[४४]

ध्वनिविरोधियों के मूर्धन्य आचार्य महिमभट्ट ने आनन्दवर्धन के द्वारा प्रतिपादित काव्यात्मता के आधायक काव्य-विशेष के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहा है कि विशेषता के आधार पर ध्वनि को काव्यात्मा कहना इसलिए अनुपयुक्त है कि ऐसा मानने पर ध्वनि से व्यतिरिक्त किसी भी रचना को काव्यात्मा के अभाव में काव्य नहीं कहा जा सकता और इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक भेद आत्मारहित होने से काव्य की संज्ञा का भाजन कैसे हो सकता है ? स्वयं ध्वनिकार ने गुणीभूतव्यङ्ग्य में चारुता के

---

४२. ध्वन्यालोक १।१३
४३. ध्वन्यालोक ३।४१
४४. ध्वन्यालोक (वृत्ति) ३।३६

प्रकर्ष को स्वीकार किया है—

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ॥[४५]

चारुता के रहते हुए भी गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक भेद काव्य होने से इसलिये वंचित रह जायेगा कि उसमें काव्य की आत्मा ध्वनि कथमपि संभव नहीं है। क्योंकि वह काव्य-विशेष की कोटि में नहीं आता। अतः गुणीभूतव्यङ्ग्य में भी चारुता के होने से यदि काव्यात्मता अभीष्ट है तो ध्वनि के प्रति इतना आदर प्रदर्शित करने की क्या आवश्यकता है कि उसे काव्यविशेष कहकर काव्यात्मा की संज्ञा दी जाय—

यदि काव्ये गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपीष्टैव चारुता ।
प्रकर्षशालिनी तर्हि व्यर्थ एवादरो ध्वनौ ॥
नहि काव्यात्मभूतस्य ध्वनेस्तत्रास्ति सम्भवः
तेन निर्जीवितैवास्य स्यात् प्रकर्षे कथैव का ॥[४६]

व्यक्तिविवेककार का उद्देश्य यहाँ विशेषता के आधार पर काव्यात्मा के सिद्धान्त में दोष का निर्देश करना है। उनका तर्क है कि जिस तत्त्व में व्यापक रूप से काव्य के सभी प्रकारों को अपने में समेटने की क्षमता नहीं है वह काव्यात्मा नहीं हो सकता, चाहे वह कितना ही विशिष्ट क्यों न हो। इस प्रकार उत्कृष्टता के आधार पर काव्यात्मता का निर्धारण नहीं किया जा सकता। उनका अपना सिद्धान्त है कि संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध ही एक ऐसा आधार है जिस पर काव्यात्मा टिक सकती है। किसी भी रचना को काव्य की संज्ञा प्रदान करने का जो तत्त्व असाधारण कारण होगा वही संज्ञी के रूप में काव्यात्मा हो सकता है। वस्तु, अलङ्कार, गुण, रीति, वक्रोक्ति प्रभृति काव्य-तत्त्वों की अपेक्षा रस ही एक ऐसा तत्त्व है जो व्यापक रूप से उन सभी स्थलों में विद्यमान रहता है जिनको काव्य की संज्ञा प्राप्त है—

सम्भवापेक्षया चास्य ध्वनेः स्वरूपमात्रप्रतिपादनार्थत्वोपगमेऽन्येषामपि तद्वाक्यवर्त्तिनां पदवर्णसंख्यादीनां तदुपदर्शनप्रसङ्गो विशेषाभावादिति संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धव्युत्पत्तिमात्रफलमेतत् पर्यवस्यतीति न काव्यविशेषव्युत्पत्ति-फलम्।[४७]

---

४५. ध्वन्यालोक ३।३४
४६. व्यक्तिविवेक, संग्रह कारिका १।९३, ९४
४७. वही, (तिरुवेन्द्रम्, १९०९), प्रथम विमर्श; पृ० ३४ ।

इस प्रकार रस की काव्यात्मता का आधायक उसका काव्य का संज्ञी होना है। चूँकि रस के बिना काव्य को काव्य की संज्ञा नहीं मिल सकती अतः रस काव्य का संज्ञीतत्त्व है, इसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए—

काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः ।
संज्ञायां सा केवलमेषापि व्यक्त्ययोगतोऽस्य कुतः ॥[४८]

[घ] रस, काव्य-कला का चरम लक्ष्य

काव्य एक कला है। यद्यपि कलाओं में प्रयोजन अन्तर्निहित होता है। क्योंकि प्रयोजन का परिलक्षित होना कला के महत्त्व को कम करता है, तथापि इसके उद्देश्य का विवेचन करने की प्रथा समीक्षा-शास्त्र के इतिहास के प्रारम्भ से ही उपलब्ध होती है। नाट्य के प्रयोजनों का निरूपण भरत के नाट्यशास्त्र में पर्याप्त विस्तारपूर्वक हुआ है जिसमें स्थूलरूप से धर्म, अर्थ और काम संज्ञक तीनों पुरुषार्थों का ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार विशुद्ध रूप से काव्य को लेकर लिखे गये समीक्षाग्रन्थों में आरम्भ की कृतियाँ प्रीति और कीर्ति को काव्य का प्रयोजन बताती हैं। आचार्य मम्मट ने काव्य के संभावित सभी प्रयोजनों का संकलित रूप से निरूपण काव्यप्रकाश में किया है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥[४९]

काव्यप्रकाशकार ने यहाँ काव्य के ६ प्रयोजनों का प्रतिपादन किया है जिनमें से दो यशः प्राप्ति और अर्थार्जन कविगत होते हैं तथा व्यवहारज्ञान एवं कृत्याकृत्यविवेक नाम के दो केवल सामाजिकगत। शेष दो अमंगल, विनाश एवं आनन्दानुभूति कवि एवं पाठक या प्रेक्षक उभयगत होते हैं। उक्त छओं प्रयोजनों में मुख्यगौणभाव का भी विधान स्वयं ग्रन्थकार ने किया है। इन सबमें सद्यः परनिर्वृतिरूप आनन्दानुभूति को सबका मौलिभूत अर्थात् सर्वोत्कृष्ट प्रयोजन बताया है—

सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलित-वेद्यान्तरमानन्दम्।[५०]

यहाँ कारिका में प्रयुक्त 'सद्यः परनिर्वृति' एवं उसकी वृत्ति में उक्त 'आनन्द' पद रस की अनुभूति अवस्था के अभिधायक हैं। शब्दान्तर में हम यह

४८. व्यक्ति विवेक, (तिरुवेन्द्रम्, १९०९), पृ० २२
४९. काव्यप्रकाश १।२
५०. काव्यप्रकाश १।२ पर वृत्ति।

कह सकते हैं कि वह तत्त्व रस ही है जो काव्य के परम प्रयोजन के रूप में विहित हुआ है। इसके मौलिभूत अर्थात् सभी प्रयोजनों में प्रधान होने का आधार यह है कि यश एवं अर्थलाभ आदि जितने भी प्रयोजन हैं उन सबकी परिणति अन्ततोगत्वा आनन्द में ही होती है। कला कला के लिए जो कहा जाता है उसका भी अभिप्राय यही है कि कला आनन्द के लिए है। काव्य से उसकी उपलब्धि रस के रूप में ही होती है। इसलिए आनन्द को काव्य का मौलिभूत प्रयोजन कहना सर्वथा समुचित ही है।

काव्यप्रकाश की उक्त कारिका में प्रयुक्त परनिर्वृति का अर्थ कुछ मनीषियों ने मोक्षकालिक ब्रह्मानन्द भी किया है। उनकी दृष्टि से रसानुभूति वस्तुतः आत्मानुभूति है जिसका स्पष्टतया निरूपण आचार्य अभिनवगुप्त ने उसे स्वात्मपरामर्श तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रसो वै सः' की उक्ति से किया है। भारतीय चिन्तन की परम्परा में आत्मानुभूति को जीवन के चरम-लक्ष्य के रूप में निर्धारित किया गया है। उपनिषद् एवं वेदान्त प्रभृति दर्शनों का तो प्रतिपाद्य विषय ही यही है। अभिनवगुप्त प्रभृति साहित्य-शास्त्रियों के द्वारा रस को जीवन के उसी चरम लक्ष्य आत्मा का अनुभव कहा गया है। काव्य तो उस अनुभूति का निमित्तमात्र है। इसीलिए उन्होंने रस को लौकिकप्रत्यक्षादि प्रमाणों से होने वाले बोध से विलक्षण तो कहा ही है उन योगियों के सीमित एवं परिमितेतर उस ज्ञान से भी विलक्षण कहा है जिसके लिए प्रत्यक्षादि प्रमाणों की तो अपेक्षा रहती नहीं, इनसे पृथक् अन्य भी किसी प्रकार का ज्ञान उस समय नहीं होता। अतः उसे लोकोत्तर स्वसंवेदनगोचर कहा है—

लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्श-रहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदन-गोचर इति।[५१]

रस को काव्य के चरम तत्त्व होने का प्रतिपादन तो आनन्दवर्धन ने भी किया था किन्तु उनका विवेचन उसे सर्वोत्कृष्ट तत्त्व तक ही सीमित रखता है आत्मानुभूति तक नहीं ले जाता। आनन्दवर्धन के अनन्तर भट्टनायक ने रस को निर्विकल्पक समाधि के साधक योगियों के अनुभव से भी उत्कृष्टतर कोटि का अनुभव कहा। उनका आग्रह है कि काव्य के ही क्षेत्र में नहीं जीवन के क्षेत्र में भी रस एक ऐसी अनुभूति है जिसके प्रति मनुष्यमात्र का आग्रह होना

---

५१. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, अभिनवगुप्तकृत रससूत्र की व्याख्या।

चाहिए। यह वाणीरूपी धेनु का वह सुमधुर दुग्ध है जो जिज्ञासु बछड़ों की तृष्णा से स्वत: परिस्रुत होता है। इसे हठपूर्वक मन को मारकर उपलभ्यमान योगियों का अनुभव कैसे पा सकता है—

वाग्धेनुर्दुग्ध एतंहि रसं यद् बालतृष्णया।
तेन नास्य सम: स स्याद्दुह्यते योगिभिर्हि य: ॥[५२]

आनन्दवर्धन ने रस को सरस्वती का निष्यन्द कहा था जिसकी अभिव्यक्ति ही महाकवियों की परिस्फुरित होती हुई विलक्षणप्रतिभा का प्रमापक होती है—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु नि:ष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥[५३]

इस प्रकार उक्त विवेचनों को दृष्टि में रखते हुए मम्मट का सद्य:परनिर्वृति पद से रसानुभूति रूप आनन्द का निरूपण करना कितना सटीक है। रसानुभूति की चरमलक्ष्यता का प्रतिपादन आध्यात्मिक दृष्टि से भी समुचित है। दार्शनिक सिद्धान्तों में सांसारिक जीवन को दु:खमय बताया गया है। दु:ख से निवृत्ति को ही कुछ दर्शन परम पुरुषार्थ के रूप में निरूपित करते हैं—

अथ त्रिविधदु:खात्यन्तनिवृत्ति रत्यन्तपुरुषार्थ:।[५४]

अत: दु:ख की निवृत्ति मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। काव्य भी अपने ढंग से उसी की पूर्ति रसानुभूति के रूप में कराता है। नानाप्रकार के सांसारिक प्रपञ्चों एवं विषमताओं से प्रपीड़ित व्यक्ति को थोड़ी देर के लिए ही सही काव्य, रस के स्पर्श से उसके मानसिक तनावों को शिथिल करते हुए एक ऐसी दशा में पहुँचा देता है जहाँ वह परमशान्ति रूप विश्रान्ति पा लेता है। भरत ने ठीक ही कहा है—

दु:खार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ॥[५५]

रस के काव्यकला का चरमलक्ष्य होने का एक अवान्तर पक्ष भी है। रमणीयता सामान्य रूप से सभी कलाओं का स्वरूप है। उनके द्वारा जो प्रतिपाद्य है उसे रमणीय होना ही चाहिए। इसलिये काव्यकला के माध्यम से

५३. ध्वन्यालोक, लोचन १।६
५४. सांख्यसूत्र १।१
५५. नाट्यशास्त्र १।११४

गुण, अलंकार एवं वक्रोक्ति प्रभृति जितने भी तत्त्वों को अभिव्यक्ति मिलती है वे सब रमणीय ही होते हैं। पर इनमें परम रमणीय तत्त्व भी है जिसका स्वरूप रहस्यमय है। वह है रस।

पण्डितराज जगन्नाथ ने सामान्य रूप से रमणीय अर्थ को काव्य का प्रतिपाद्य कहते हुए भी रस को परम रमणीय तत्त्व घोषित किया है। अभिधा एवं लक्षणा मूलक पांचो प्रकार की ध्वनियों का निरूपण करते हुए वह कहते हैं कि ध्वनि के सभी प्रकारों के रमणीय होते हुए भी रस के ही काव्यात्मा होने का जो विधान किया गया है उसका कारण रसध्वनि की परमरमणीयता ही है—

एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तस्यात्मा रसस्तावद-भिधीयते।[५६]

सामान्यतया सौन्दर्य को चाक्षुष ही समझा जाता है। रमणीयता और सौन्दर्य परस्पर पर्याय हैं। पर रस के चाक्षुष न होने से उसकी सुन्दरता की बात अटपटी सी लगती है। रमणीय एवं सुन्दर पदों में अन्तर यह है कि यौगिक होने से रमणीय पद की प्रकृति बुद्धिगम्य है जबकि सुन्दर पद की प्रकृति को न समझते हुए भी हम उससे अपेक्षाकृत अधिक परिचित इसलिए हैं कि वह रूढ़ है। पण्डितराज जगन्नाथ ने संभवतः इसीलिए सुन्दरता का प्रयोग न कर रमणीयता का किया है। पर काव्यात्मक चारुता के लिए सुन्दर पद का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त होता। सुन्दर पद को यद्यपि अनेक प्रकार से व्युत्पन्न करने का प्रयास किया गया है तथापि सन्तोषजनक व्युत्पत्ति अभी भी अपेक्षित है। मेरी दृष्टि में यह शब्द मूलतः 'असुन्दर' है जिसकी व्युत्पत्ति होगी 'असून् प्राणान् दारयति कम्पयति इति असुन्दरः'। सुर आदि पदों की तरह यहाँ भी आदि अक्षर 'अ' का लोप हो गया है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ हुआ, जिसका बोध होते ही व्यक्ति के प्राणतत्त्व स्वतः कंपित अर्थात् झकझोर उठें वही (अ) सुन्दर है। काव्यजन्य चारुता के बोध के विषय में इसीलिए सुन्दरता का प्रयोग अधिक पुष्कल प्रतीत होता है। रसानु-भूति के विषय में तो यही पद सर्वथा उपयुक्त है। इस प्रकार रस परम सुन्दर है। इसीलिए काव्यकला का चरम चरमलक्ष्य भी है। रस के काव्यात्मा होने का यही रहस्य है।

---

५६. रसगङ्गाधर, (चौखम्बा, १९५५), प्रथम आनन, पृ० ७९

(ङ) रस, ज्ञान-प्राप्ति का सरलतम उपाय

काव्य का एक उपयोगितावादी पक्ष भी है जो उसे ज्ञान-प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय का आविष्कार मानता है। उसकी धारणा है कि समाज में आरम्भ से ही यह प्रवृत्ति रही है कि जैसे उसने ज्ञान-विज्ञान का विकास किया वैसे ही उसको जनसामान्य तक पहुँचाने का सरलतम उपाय भी आविष्कृत किया, वही काव्य है। भारतीय साहित्य के इतिहास में यह प्रवृत्ति वैदिक काल से ही परिलक्षित होती है। जिसके ज्वलन्त निदर्शन स्वयं वैदिक सूक्त हैं जिनमें प्रकृति की विविध शक्तियों एवं उसके क्रियाकलापों का रूपकात्मक निरूपण नाना प्रकार के देवी-देवताओं के रूप में हुआ है। इसे आधिदैविक विद्या कहते हैं। जब यह प्रक्रिया क्रमशः सरलता से जटिलता की ओर बढ़ने लगती है तो एक नये प्रकार का अभ्युदय अवश्यम्भावी हो जाता है। भरत के नाटचशास्त्र में कुछ ऐसे संकेत हैं जिससे ज्ञात होता है कि नाटच के विकास के विषय में भी यह सिद्धान्त काम कर रहा था। भरत का विधान है कि नाटच से लोगों को यह शिक्षा मिलती है कि धर्म क्या है? किस काम को करने से व्यक्ति को यश प्राप्त होता है? जीवन की कौन सी प्रक्रिया अधिक आयु प्रदान करती हैं तथा उसके लिए क्या हितकर और क्या अहितकर है? यही नहीं नाटच से व्यक्ति के ज्ञान की भी वृद्धि होती है—

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाटचमेतद्भविष्यति ॥[५७]

भरत का तो उद्घोष है कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं, ऐसा कोई शिल्प नहीं, न ही कोई ऐसी विद्या या कला अथवा इन सबका समवेत रूप या ऐसा कोई कर्म है जो नाटच में न पाया जाय—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाटचेऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥[५८]

ऐसा प्रतीत होता है कि भरत के इस विधान के बाद नाटकों के माध्यम से शास्त्र के प्रवचन की प्रथा अपेक्षाकृत अधिक बढ़ गई, जिसके परिणामस्वरूप मुद्राराक्षस एवं मृच्छकाटिक की सरणि पर उपदेशप्रद रचनाओं का बाहुल्य होने लगा, जिससे धनञ्जय को उसका निषेध करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। उन्होंने अपनी कृति दशरूपक के आरम्भ में ही मानों नाटककारों को सावधान

---

५७. नाटचशास्त्र १।११५
५८. वही १।११६

करते हुए कहा है कि 'रूपकों की रचना का उद्देश्य लोगों को आनन्दानुभूति कराना है। जो लोग इतिहास पुराण आदि की तरह नाटकों को भी ज्ञानार्जन का साधन मात्र मानते हैं वे नीरस लोग बस प्रणाम ही करने लायक हैं—

आनन्दनिष्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय ॥[५९]

काव्यजन्य रसास्वाद ज्ञानार्जन का माध्यम है। इसका प्रत्यक्षतः प्रतिपादन आलङ्कारिकों में सबसे पहले भामह ने किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार शहद का मधुर आस्वाद पाकर व्यक्ति कड़वी से कड़वी औषधि का भी पान कर जाता है ठीक उसी प्रकार काव्य के आस्वादनात्मक तत्त्व रस से मिश्रित होकर गहन शास्त्र भी सहनग्राह्य हो जाता है—

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुज्यते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम् ॥[६०]

मधु में कड़वी औषधि के दृष्टान्त का निरूपण सबसे पहले अश्वघोष ने अपनी काव्यकृति सौन्दरनन्द में करते हुए कहा है कि जिस दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन बौद्धधर्म के उत्कृष्ट महात्माओं एवं विद्वानों ने मोक्ष को दृष्टि में रखकर किया है उन्हींका निरूपण मैंने काव्य के मार्ग से किया है, इस लिए कि शहद के साथ दी जाने वाली कड़वी औषधि के समान वह शुष्क सिद्धान्त भी हृद्य हो जाय और जन-सामान्य तक पहुँच सके—

यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतम्।
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥[६१]

इस सिद्धान्त का पूर्ण विकसित रूप हमें महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक में उपलब्ध होता है जहाँ ग्रन्थकार ने काव्य और नाट्य को भी शास्त्र की संज्ञा देते हुए शास्त्रान्तर के समान ही विधिनिषेधात्मक कृत्याकृत्य-विवेक को ही उसका भी फल बताया है। शास्त्र और काव्य दोनों का उद्देश्य एक ही है—ज्ञानार्जन अर्थात् विवेक। दोनों में अन्तर केवल अधिकारी का है। एक ओर शास्त्र का अधिकारी जहाँ शुष्क-हृदय तीक्ष्ण-बुद्धि व्यक्ति ही होता है वहाँ काव्य के मार्ग से रसिकों तथा सुकुमार मति जनसामान्य को भी वही फल

---

५९. दशरूपक १।६
६०. काव्यालंकार ५।३
६१. सौन्दरनन्द १०।६३

प्राप्त होता है—

सामान्येनोभयमपि च तत् शास्त्रवद्विधिनिषेधव्युत्पत्तिफलम् ।

केवलं व्युत्पाद्यजनजाड्यतारतम्यापेक्षया काव्यनाट्यशास्त्ररूपोऽयमुपायमात्रभेदो न फलभेदः ।[६२]

उस काल की प्रथा के अनुसार धनी मानी लोगों तथा राजा महाराजाओं के बालकों को ही सुकुमारमति माना जाता था तथा जन-सामान्य को जड़मति कहा जाता था । किन्तु ये सभी संगीत और नृत्य में अधिक रुचि रखते थे । अतः इनको शास्त्रीय ज्ञान का बोध कराने के लिए काव्य के मार्ग का आविष्कार हुआ है जिसमें निरूपित रस के आस्वादन का सुख पाकर जटिल शास्त्रीय सिद्धान्तों का भी सरलतया बोध कर लेना उसी प्रकार सम्भव माना जाता था जिस प्रकार कड़वी औषध देने के पहले जीभ पर गुड़ की एक छोटी डली रख दी जाती है । फलतः रसानुभूति जटिल सिद्धान्तों को सरलतया बुद्धिगम्य कराने का एक प्रकार मात्र है । आचार्य महिमभट्ट का काव्य के अनिवार्य रूप से रसात्मक होने के प्रति जो आग्रह है उसका रहस्य यही है। अन्यथा रसास्वाद के अभाव में लोगों की काव्य में प्रवृत्ति ही नहीं होगी और इस प्रकार काव्य-रचना अपने उद्देश्य व्युत्पत्ति में सफल नहीं हो सकेगी—

काव्यारम्भस्य साफल्यमिच्छता तत्प्रवृत्तिनिबन्धनभावेनास्यरसात्मकत्वमवश्यमुपगन्तव्यम् । अन्यथा प्रवृत्तिरेषां न स्यात् किमुत व्युत्पत्तिः ।[६३]

महिमभट्ट रस को काव्य का आत्मा इसीलिए कहना चाहते हैं कि काव्य के चरमलक्ष्य ज्ञानार्जन के प्रति रसात्मकता ही असाधारण कारण है । मम्मट एवं विश्वनाथ प्रभृति उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी कृतियों में इस पक्ष का आदरपूर्वक समुल्लेख किया है। मम्मट उसे कान्तासम्मित उपदेश कहते हुए कवि और सहृदय दोनों को उसका अधिकारी बताते हैं । उन्होंने लोकोत्तर वर्णनानिपुणता को ही कवित्व के लक्षण के रूप में निरूपित किया है जिसकी सफलता रचना को सरसता प्रदान करने में ही मानी है ।

शब्दार्थयोः गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत् काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोति

---

६२. व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श ।

६३. व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श ।

इति सर्वथा तत्र यतनीयम् ।[६४]

पण्डितराज जगन्नाथ काव्य मे होने वाले लोकोत्तर आह्लाद एवं ब्रह्मानन्द में कोई अन्तर नहीं करते। वेदान्त ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मानन्द को अभिन्न मानता है। वेदान्तों में ब्रह्मत्व की प्राप्ति को मानवजीवन को परमलक्ष्य बताया है। वेदान्तप्रतिपादित ब्रह्म तत्त्व व्यक्ति में सन्निहित चेतनात्मक आत्मतत्त्व से भिन्न नहीं है। निखिल ब्रह्माण्ड के कण कण में वही आत्मतत्त्व व्याप्त है जिसका स्फुरण जीवित व्यक्तियों में परिलक्षित होता है। व्यष्टिगत आत्म चैतन्य का अनुभावात्मक बोध प्राप्त कर परम व्यापकरूप में विद्यामान समष्टिगत चैतन्य के साथ उसका तादात्म्य बोध ही ब्रह्मज्ञान अर्थात् ब्रह्मत्व की प्राप्ति है जिसमें स्वपरभाव नहीं होता। विभावादि भावों के साधारणीकरण के द्वारा व्यक्ति के स्वपरभाव के अन्तर्हित हो जाने का विधान साहित्य-शास्त्र भी करता है। काव्यजन्य रसानुभव व्यष्टिगत आत्मानुभव का ही एक प्रकार है जिसे पाकर ब्रह्मत्व की प्राप्ति तो नहीं होती किन्तु जिस प्रकार समाधि में योगियों की चित्त-वृत्ति होती है वैसी ही रसानुभूति की अवस्था में भी हो जाती है। इस प्रकार काव्य-रस व्यक्ति के द्वारा आत्मचैतन्य की साक्षात् अनुभूति का एक प्रकार होने से उपाय ही है जिसे पंडितराज जगन्नाथ साक्षिभाष्य की संज्ञा देते हैं।

रस की काव्यात्मता के विविध पक्षों का निरूपण उपर्युक्त पृष्ठों में किया गया है जो संक्षिप्त होते हुए भी वैविध्यपूर्ण है। यहाँ प्रयास इस बात का किया गया है कि एतद्विषयक सभी पक्ष यथासंभव उपस्थापित कर दिये जाँय।

---

६४. काव्यप्रकाश, वृत्ति १।२

१०

काव्य-रस की अलौकिकता

काव्यानुभूति की कोटियां

संस्कृत-साहित्यशास्त्र का समग्र रूप से ऊहापोह करने पर निर्गलित रूप में काव्य-जन्य अनुभूति की तीन कोटियों के होने का विधान प्राप्त होता है। काव्यानुभूति का वह प्रकार जो सहृदय के हृदय में विचित्रता की सृष्टि करते हुए उसे चमत्कृत भर कर देता है, अलंकार कहा गया है। अनुप्रास, यमक, उपमा, रूपक एवं दीपक प्रभृति अलङ्कारों के द्वारा सहृदय सामाजिक के हृदय में एक विशेष प्रकार के चमत्कार की सृष्टि होती है। स्वर या व्यञ्जन साम्य, पद एवं अर्थ श्लेष, सादृश्य, विरोध, आरोप तथा अध्यवसान आदि उस वैचित्र्य के आधायक तत्त्व होते हैं जिनके आधार पर अलङ्कारों का वर्गीकरण किया जाता है। कोई भी अलङ्कार, चाहे वह सादृश्य-मूलक हो या विरोध मूलक, काव्य के पाठक के मन में विद्यमान कूतूहलभाव को ही स्पर्श कर पाता है, उसके हृदय को पूर्ण रूप में आन्दोलित करने में समर्थ नहीं हो पाता। इसीलिए विचित्रता को ही अलङ्कार का सर्वस्व माना गया है—

रसस्याङ्गं विभावाद्याः साक्षान्निष्पादकत्वतः।
तद्वैचित्र्योक्तिवपुषोऽलङ्कारास्तु तदाश्रयाः ॥[1]

काव्यानुभूति का दूसरा प्रकार वह है जो हमारी ज्ञानसामग्री को बढ़ाता है अथवा हमें किसी नई बात की जानकारी देता है। चूंकि इससे हमारी बुद्धि में किसी वस्तु या विषय की प्रतिमा बन जाती है इसलिए इसकी संज्ञा वस्तु है जो अर्थ का ही एक प्रकार है। आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त में वस्तु का स्वरूप निखर कर आया है। मम्मट इसे अर्थ का वह प्रकार मानते हैं जो वैचित्र्य से रहित होता है—अविचित्रं वस्तुमात्रम्। वस्तु काव्य में निरूपित घटनाओं में निहित होती है। इसीलिए आगे चलकर इसका प्रयोग कथावस्तु के नाम से कथानक के लिए भी होने लगा।

काव्यानुभूति का तीसरा प्रकार रस है जो काव्यार्थ का साक्षात् आस्वाद ही है। काव्यानुभूति के प्रथम एवं द्वितीय प्रकार जहाँ पाठक तथा प्रेक्षकों को काव्यार्थ से क्रमशः चमत्कृत एवं उद्बोधित करते हैं वहाँ तृतीय प्रकार रस

१. व्यक्तिविवेक, संग्रहकारिका २।७६

काव्यार्थ की साक्षात् अनुभूति ही है। रस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य भरत ने आस्वादनीयता को ही रस-संज्ञा के विधायक हेतु के रूप में उपन्यस्त किया है—अत्राह रस इति कः पदार्थः ? उच्यते—आस्वाद्यत्वात् ।[2]

अभिनवगुप्त ने भरतनाट्यशास्त्र की टीका में 'यत्तूक्तं' से तथा महिम-भट्ट ने व्यक्तिविवेक में 'यथोक्तं' से थोड़े पाठभेद के साथ एक कारिका उद्धृत की है जो संभवतः भट्टतौत की अनुपलब्ध कृति 'काव्यकौतुक' की है । इसमें कहा गया है कि भावों की योजना से व्यङ्ग्य अथवा स्वसंवेदनगोचर काव्यार्थ का आस्वादनात्मक अनुभव ही रस है—

भावसंयोजनाव्यङ्ग्यपरिसंवित्तिगोचरः ।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते ॥[3]

रसानुभूति की विलक्षणता

रस के रूप में अनुभूयमान काव्यार्थ के आस्वाद के विषय में अनेक विसंवाद उपस्थित होते हैं जब हम जानना चाहते हैं कि यह किस प्रकार का होता है । वैसे तो प्रत्येक वस्तु एवं विषय का अनुभव अपने ढंग का विलक्षण ही होता है पर सभी प्रकार के अनुभवों का वर्गीकरण दो शीर्षकों में सरलता से किया जा सकता है—१. अनुकूल वेदनीय एवं २. प्रतिकूल वेदनीय । अनुकूल वेदनीय को ही सुख तथा प्रतिकूल वेदनीय को दुःख की संज्ञा दी गई है । रसानुभूति के विषय में भी यही प्रश्न समुत्थित होता है कि वह मात्र अनुकूल वेदनीय है अथवा अनुकूल एवं प्रतिकूल उभय-वेदनीय । काव्य से होने वाली अनुभूति को मात्र दुःखात्मक तो कोई नहीं कहेगा पर वह केवल सुखात्मक है या सुख-दुःख उभयात्मक यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है । काव्य को कवि के अन्तःकरण में पुञ्जीभूत शोक की अभिव्यक्ति मानने वालों के अनुसार भी प्रेक्षकों या पाठकों की अनुभूति केवल दुःखात्मक नहीं होती । 'शोकः श्लोकत्वमागतः' के कथयिता आचार्य आनन्दवर्धन ने भी काव्य मात्र को सामान्य रूप से सहृदय हृदयाह्लादक कहा है ।

भरतनाट्यशास्त्र के कुछ टीकाकारों ने रसविषयक भरत की उक्ति 'हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति' में प्रयुक्त आदि पद से शोक विषाद आदि का भी

---

२. नाट्यशास्त्र, (बड़ौदा, १९५६), षष्ठ अध्याय, पृ० २८८
३. अभिनवभारती, (बड़ौदा १९५६), षष्ठ अध्याय, पृ० २७७
व्यक्तिविवेक, (तिरुवेन्द्रम्, १९०९), प्रथमविमर्श, पृ० १२

ग्रहण करते हुए उसी के अनुसार रसानुभूति के भी सुख, दुःख एवं विषादात्मक होने का विधान किया है। अतएव दूसरे अन्य टीकाकार उसके स्थान पर 'हर्षांश्चाधिगच्छन्ति' ही शुद्ध पाठ मानते हैं—

'अन्ये त्वादिशब्देन शोकादीनामत्र सङ्ग्रहः । स च न युक्तः । सामाजिकानां हि हर्षैकफलं नाट्यं न शोकादिफलम् । तथात्वे निमित्ताभावात्तत्परिहारप्रसङ्गाच्चेति मन्यमाना हर्षांश्चाधिगच्छन्तीति पठन्ति ।'[४]

इस प्रकार हर्ष के समान शोक एवं विषाद आदि को भी यदि काव्यानुभूति के रूप में ग्रहण किया जायेगा तो उन सबका प्रतिकूल वेदनीयता में वर्गीकरण कर उसे सुखात्मक और दुःखात्मक दो प्रकार का ही मानना होगा। आचार्य अभिनवगुप्त ने रसानुभूति की दुःखात्मकता का सर्वथा निराकरण किया है। उनका कहना है कि रसानुभूति की अवस्था में स्वात्मा का ही परामर्श होता हैं जो स्वयं आनन्दघनरूप है। अतः उसके आस्वाद में दुःख की आशंका ही कैसे हो सकती है। रति, शोक आदि वासनाओं को उद्बुद्ध करने का उद्देश्य आनन्दघनरूप स्वसंवेदन कराना ही है। उसी में अभिनय आदि व्यापारों की सार्थकता होती है—

अस्मन्मते संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशङ्का । केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारः। तदुद्बोधने चाभिनयादिव्यापारः।[५]

अभिनवगुप्त के साहित्यिक गुरु भट्टतौत ने रस को प्रीत्यात्मक कहा था। आनन्दवर्धन उसे प्रह्लादनात्मक कहते हैं। पर अभिनवगुप्त तो उसे साक्षात् आनन्द की ही संज्ञा देते हैं। यहाँ आनन्द, प्रीति और सुख के अन्तर का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। आनन्दवर्धन के आह्लाद तथा भट्टतौत की प्रीति का अन्तर्भाव अनुकूलवेदनीय होने से सुख में सर्वथा सम्भव है। सुखानुभव या सुखास्वाद ऐन्द्रिक अनुभव से परे नहीं होता। क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा वेदनीय विषय की अनुकूलता ही सुख है। आनन्दानुभव इससे सर्वथा पृथक् इसलिए होता है कि वह एक ऐसा अनुभव है जो इन्द्रियों के द्वारा सम्पादित न होकर साक्षात् मन से ही सम्पन्न हो जाता है। इन्द्रियाँ उस समय शिथिल होकर अपना-अपना व्यापार करना छोड़ देती हैं जिससे उनका सम्बन्ध उनके

४. नाटचशास्त्र, (बड़ौदा, १६२६), षष्ठ अध्याय, अभिनवभारती, पृ० २८६
५. अभिनवभारती, बड़ौदा, १६५६), पृ० २६२

विषयों से विच्छिन्न हो जाता है। अतः आनन्दानुभूति को सुखानुभूति का पर्याय नहीं स्वीकार किया जा सकता। आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार रसानुभूति जब एक प्रकार का आध्यात्मिक बोध है तो उसके विषय में यह विसंवाद उपस्थित होना सर्वथा विप्रतिषिद्ध है कि वह मात्र सुखात्मक है या सुखदुःखोभयात्मक। इस सम्बन्ध में महाकवि भवभूति के उत्तररामचरित का एक पद्य समुद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा जिसमें सीता के स्पर्श से समुद्भूत अपनी विलक्षण अनुभूति का निरूपण करते हुए राम कहते हैं कि उनके लिए यह सम्भव नहीं है कि वह निश्चयपूर्वक बता सकें कि वह अनुभूति सुखात्मक है या दुःखात्मक। क्योंकि अनुभूति के सुखात्मक या दुःखात्मक होने का निर्धारण उसकी अनुकूल या प्रतिकूल वेदनीयता से होता है जो वैषयिक अनुभव होता है। सभी प्रकार के अनुकूल या प्रतिकूल विषयों का ग्रहण इन्द्रियाँ ही कर पाती है क्योंकि वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध विषयक ही होता है जो इन्द्रियों के विषय हैं। पर यहाँ तो उनकी (राम की) इन्द्रियाँ ऐसी शिथिल हो गई हैं कि वे अपना अपना व्यापार सम्पादित करने में सर्वथा असमर्थ हैं क्योंकि उनके अध्यक्ष मन में एक ऐसा विकार उद्बुद्ध हो गया है जिसका प्रभाव चैतन्य पर भी परिलक्षित होता है—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च सम्मीलयति च ॥[६]

रसानुभूति की अलौकिकता

(अ) भरत की साक्षी

भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र में रस के लिये अलौकिक, अनिर्वचनीय अथवा लोकोत्तर जैसे किसी भी विशेषण का प्रयोग सर्वथा अनुपलब्ध होता है। समूचे नाट्यशास्त्र में ऐसा कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता जिससे रसानुभूति के अलौकिक होने का अर्थ लगाया जाय। रस की अलौकिकता का सिद्धान्त उत्तरवर्ती आचार्यों की कृतियों में जो उपलब्ध होता है उसके दो रूप हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं—विभावादि की अलौकिकता तथा रस की अलौकिकता। नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय में भावों का निरूपण हुआ है किन्तु वहाँ भी उन्हें

६. उत्तररामचरित १।३५

अलौकिक या लोकोत्तर नहीं कहा गया है। इसके विपरीत उन्हें लोकस्वभाव संसिद्ध तथा लोकयात्रानुगामी कहा गया है। भाव पद की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि लोक में भी प्रसिद्ध है कि किसी वस्तु को भावित या वासित करते हैं उसी तरह भाव होते हैं—

भू इति करणे धातुस्तथा च भावितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम्।

लोकेऽपि च प्रसिद्धम्।

आगे इसी अध्याय में कहा गया है कि विभाव और अनुभाव लोकप्रसिद्ध होते हैं। चूंकि उनका ज्ञान लोक से ही स्वतः हो जाता है इसलिए उनके लक्षण का विस्तार पूर्वक विवेचन नहीं किया गया है—

लोकस्वभावसंसिद्धा लोकयात्रानुगामिनः।
अनुभावा विभावाश्च ज्ञेयास्त्वभिनये बुधैः॥[७]

भरत ने नाट्य की परिभाषा करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि लोक का स्वभाव ही, जिसमें सुख और दुःख दोनों समन्वित रहते हैं, अभिनय से युक्तहोकर नाटच बन जाता है। अतः नाट्य या काव्य एवं उनसे होने वाली अनुभूति प्रकारान्तर से लोकस्वभाव की ही अनुभूति है—

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाटचमित्यभिधीयते॥[८]

इस प्रकार नाटचशास्त्र के अनुसार काव्यानुभूति एवं रसानुभूति सर्वथा लौकिक ही विहित है। पूरे नाट्यशास्त्र में रस के लिए अलौकिक, लोकोत्तर या अनिर्वचनीय जैसे किसी भी विशेषण का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। न ही उसे लोक में अहर्निश अनुभूयमान हर्ष आदि भावों से सर्वथा विलक्षण अथवा भिन्न कोटि का कहा गया है। इसके विपररीत रसानुभूति की उपमा लौकिक व्यञ्जनों के उपभोग से होने वाली मानसिक प्रसन्नता से दी गई है। इन सब का आकलन करते हुए हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रस विषयक अलौकिकता का सिद्धान्त निश्चित रूप से उत्तरकालीन है जिससे नाट्यशास्त्र सर्वथा अपरिचित है।

(इ) आनन्दवर्धन

नाट्यशास्त्र के बाद रचित भारतीय साहित्य-शास्त्र विषयक ग्रन्थों में

७. नाट्यशास्त्र ७।६
८. वही १।११९

आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें ध्वनि-सिद्धान्त के परिप्रेक्ष में रस के स्वरूप एवं सिद्धान्त की मीमांसा विस्तारपूर्वक की गई है। ध्वन्यालोक के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में रस का निरूपण स्वतन्त्र रूप में न होकर आनुषंगिक रूप में हुआ है। अतः उनमें रस की अलौकिकता के सिद्धान्त का ऊहापोह करना निरर्थक है। ध्वन्यालोक की भी साक्षी इस तथ्य में प्रमाण है कि आनन्दवर्धन को भी रस की लौकिकता अलौकिकता के विवाद से पाला नहीं पड़ा था। इन्होंने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ही प्रतीयमान अर्थ के माहात्म्य का प्रदर्शन करते हुए कवि की उस विशिष्ट प्रतिभा को अलोकसामान्य कहा है जिससे स्वादु उस अर्थ विशेष का निष्यन्दन काव्य में होता है—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥[६]

यहाँ पर अलोकसामान्य पद को प्रतिभाविशेष का विशेषण न मानकर यदि स्वादु के समान अर्थ-विशेष के विशेषण के रूप में अन्वित किया जाय तो रस की अलौकिकता का बीज-रूप में संकेत प्राप्त हो सकता है। क्योंकि अव्यवहित पूर्वकारिका के 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' एवं 'शोकः श्लोकत्वमागतः' के प्रयोगों से तथा प्रकृत कारिका में प्रयुक्त स्वादु विशेषण से तदर्थवस्तु पद से रस का ही ग्रहण होता है। किन्तु स्वयं ध्वनिकार ने अलोकसामान्य पद को प्रतिभा-विशेष के विशेषण के रूप में ही अन्वित कर कारिका की व्याख्या की है—

'तद्वस्तुतत्वं निष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति ।'

इस प्रकार कारिका का अर्थ यही होता है कि कवि की जिस प्रतिभा से रसात्मक काव्य की सृष्टि होती है वह लोक में सामान्य रूप से उपलब्ध नहीं होती अपितु कवि का वह एक दुर्लभ गुण है। अभिनवगुप्त कवि की इस प्रतिभा के विषय में लिखते हैं कि वह अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ कवि की प्रज्ञा ही है तथा उसकी विशेषता पाठकों के हृदय को रस के आवेश से निर्मल बनाते हुए उसे सौन्दर्य का अनुभव कराना है।

एक अन्य स्थल पर ध्वनि को अनिर्वचनीय कहकर उसका तिरस्कार करने वाले विरोधियों को उत्तर देते हुए आचार्य आनन्दवर्धन स्वयं कहते हैं कि जो लोग

---

६. ध्वन्यालोक १।६

ध्वनितत्त्व को केवल सहृदय-हृदय संवेद्य मानकर उसे अनाख्येय अर्थात् अनिर्वचनीय कहते हैं वे भी सही नहीं हैं। क्योंकि प्रकृत ग्रन्थ ध्वन्यालोक में उनके द्वारा ध्वनि के सामान्य एवं विशेष दोनों प्रकार से लक्षण प्रस्तुत कर देने पर भी यदि उसे अनाख्येय या अनिर्वचनीय की संज्ञा दी जाती है तो यह संज्ञा अन्य किसी भी वस्तु या विषय को सुतरां दी जा सकती है—

येऽपि सहृदयहृदयसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्य वादिनः। यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं तत्सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्।[१०]

ध्वन्यालोक के इन विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दवर्धन भी काव्यजन्य रसानुभूति को अलौकिक नहीं मानते अपितु वे भी भरत की परम्परा में उसे एक ऐसी अनुभूति कहते हैं जो कि अनुभवों पर आधारित होती है।

(इ) भट्टनायक

रसानुभूति को अन्य सभी प्रकार की अनुभूतियों से विलक्षण कहने वाले प्रथम आचार्य हैं भट्टनायक जिनकी विश्रुत कृति 'दर्पण', 'हृदयदर्पण' अथवा 'सहृदयदर्पण' अब तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। न ही निश्चितरूप से यही प्रमाणित हो सका है कि वह साहित्यशास्त्र विषयक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ था अथवा ध्वन्यालोक की ही कोई ध्वनिसिद्धान्त विरोधिनी टीका। आचार्य अभिनवगुप्त के द्वारा ध्वन्यालोक की टीका लोचन एवं नाट्यशास्त्र की टीका अभिनवभारती में इसके शतशः उद्धरण दिए गए हैं।

ध्वन्यालोक की उपर्युक्त कारिका 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु' की टीका करते हुए अभिनवगुप्त ने सरस्वती के विशेषण के रूप में प्रयुक्त निष्यन्दमाना पद का अर्थ 'स्वयमेव दिव्य आनन्दात्मक रस को बहाती हुई' किया है। तथा वे अपने समर्थन में भट्टनायक को नामतः भी उद्धृत करते हैं। यहाँ पर उद्धृत कारिका सम्भवतः भट्टनायक के 'हृदयदर्पण' की है जिस में काव्य को वाक् रूपी धेनु तथा रस को उसका दुग्ध कहा गया है जो सहृदय सामाजिक रूपी बछड़ों की लालसा से अपने आप थन से चूने लगता है तथा उससे होने वाला अनुभव लौकिक विषयों के अनुभव से तो विलक्षण होता ही है योगियों के आध्यात्मिक अनुभव से भी बढ़कर आनन्दायक होता है—

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद्दुह्यते योगिभिर्हि यः।[११]

१०. ध्वन्यालोक १।१६
११. ध्वन्यालोक, लोचन १।६

भरतप्रोक्त रससूत्र की व्याख्या करते हुए भट्टनायक ने कहा है कि रस न तो प्रतीत होता है न उत्पन्न और न ही अभिव्यञ्जित। क्योंकि प्रतीति प्रसंगानुसार या तो स्वगत होती है अथवा तटस्थगत। रस दोनों में से किसी भी प्रकार की प्रतीति की कोटि में नहीं आता। स्वगत प्रतीति का अर्थ होता है अपने से सम्बन्धित प्रतीति। उदाहरणतः शाकुन्तल आदि नाटकों के देखने से रति आदि जिन भावों का उद्बोध सहृदय सामाजिक के मानसपटल पर होता है वे उसे अपने भाव के रूप में प्रतीत नहीं होते अन्यथा रस की स्वगत प्रतीति का सिद्धान्त स्वीकार करने पर करुण के प्रसंग में आनन्दात्मक अनुभूति कथमपि नहीं हो सकती। रस की आत्मगतत्वेन प्रतीति इसलिए भी नहीं हो सकती कि रत्यादि जिन भावों के अनुभव को रस कहते हैं उनके विभाव सीता आदि का ग्रहण सामाजिक को अपनी कान्ता के रूप में नहीं होता। यदि यह कहें कि नाटकीय पात्रों के साथ तादात्म्य स्थापित कर ही उनके क्रियाकलापों के अभिनय या वर्णन से रसानुभूति होती है तो इस सम्बन्ध में अनेक विसंवाद खड़े हो जाते हैं, जैसे देवताओं के साथ तादात्म्य न होना एवं समुद्रलंघन आदि के सामर्थ्य का अभाव होना। स्मृति के रूप में भी रस को प्रतीति नहीं माना जा सकता क्योंकि स्मृति उसी की होती है जिसका हम ऐन्द्रिक साक्षात्कार पूर्वतः कर लिए होते हैं। रस के ऐन्द्रिक साक्षात्कार का प्रश्न ही नहीं उठता। शब्द और अनुमान के द्वारा की जाने वाली प्रतीतियों की कोटि में भी रस की प्रतीति को नहीं रखा जा सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर हमें रति आदि का साक्षात् अनुभव नहीं हो सकता। इसलिए रस प्रतीति नहीं है। इसकी उत्पत्ति भी नहीं होती क्योंकि उत्पत्ति उसी वस्तु या विषय की होती है जो पूर्वतः विद्यमान नहीं होता। रस तो सहृदय सामाजिक के मन में स्थायी रूप से निरन्तर विद्यमान रहता है। रस की अभिव्यक्ति का सिद्धान्त भी निर्दोष नहीं है क्योंकि शक्ति के रूप में पूर्वतः विद्यमान रत्यादि भावों की रस के रूप में अभिव्यक्ति स्वीकार करने से उस पर विषयों के अर्जन में होने वाले तारतम्य का आरोप होने लगेगा। अतः उक्त प्रकार से प्रतीति, उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति में से किसी में भी अन्तर्भूत न होने से रस को लौकिक अनुभव नहीं कहा जा सकता।

भट्टनायक ने रस निष्पत्ति के प्रकरण में साधारणीकरण नामक एक विलक्षण व्यापार की सत्ता प्रमाणित की है जिसकी मान्यता सार्वभौम है। उस साधारणीकरण व्यापार की कृपा से रस अनुभव एवं स्मृति आदि बोध के अन्य प्रकारों से सर्वथा पृथक् ही सिद्ध हो जाता है जो उसकी अलौकिकता का आधायक है।

भट्टनायक के मत से रसानुभूति के अलौकिक होने का तीसरा हेतु उसका

भोजकत्व व्यापार है जो उसे ब्रह्मानन्द की कोटि में बिठा देता है। ब्रह्मानन्द अथवा ब्रह्मास्वाद जो निर्विकल्पक समाधि में ही सम्भव होता है निश्चितरूप से लौकिक अनुभव नहीं होता।

अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती एवं उनके साहित्यिक गुरु भट्टतौत ने अपनी कृति 'काव्यकौतुक' में जो अब उपलब्ध नहीं है रस के अनुकरण रूप होने का खण्डन करते हुए उसे लोकोत्तर कहा है जिसमें हृदय का संवाद होने से सहृदय सामाजिक की चित्तवृत्ति मानों निमग्न हो जाती है और 'रत्यादिविषयकानुभववान् अहम्' के रूप में अनुव्यवसायात्मक जो बोध होता है वह अन्य सभी प्रकार के अनुभवों को तिरस्कृत कर देता है। जिससे प्रत्यक्ष साक्षात्कार जैसी बुद्धि वहाँ नहीं होती। फलतः वह अनुकृति नहीं कहा जा सकता अत एव अलौकिक होता है

काव्ये तु गुणालङ्कारमनोहरशब्दार्थशरीरे लोकोत्तररसप्राणके हृदयसंवादवशात् निमग्नाकारिका तावद्भवति चित्तवृत्तिः। किन्तु सर्वस्य प्रत्यक्षसाक्षात्कारकल्पा तत्र न धीरुदेति।[१२]

(ऋ) अभिनवगुप्त

काव्यरस की वास्तविक रूप से अलौकिकता के विधायक आचार्य अभिगुप्त हैं जिन्होंने योजनाबद्ध रूप से रस के अलौकिक होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका आग्रह है कि रसानुभूति की मनोवैज्ञानिक परीक्षा करने पर कुछ ऐसे प्रश्न उपस्थित होने लगते हैं कि रस को लौकिक अनुभव की कोटि में रखने पर उनका समुचित समाधान नहीं हो पाता। उनके अनुसार—

(क) काव्यजन्य अनुभूतियों में से रस ही एक ऐसी अनुभूति है जो किसी भी अवस्था में वाच्य अर्थात् शब्द का विषय नहीं होती। रस से भिन्न वस्तु एवं नाना प्रकार के अलङ्कारों की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। वे कहीं अभिधेय होते हैं तो कहीं नहीं होते। अतः उनकी लौकिकता असन्दिग्ध है। जो तत्त्व कभी भी अभिधेय नहीं होता, न हो ही सकता है, उसे लोकोत्तर ही कहना चाहिए।

(ख) यद्यपि पुत्र जन्म का समाचार सुनकर जिस हर्ष की अनुभूति पिता को होती है वह भी 'पुत्रस्तेजातः' वाक्य का शाब्दिक अर्थात् वाच्य अर्थ नहीं होता। तथापि वह इसलिये अलौकिक नहीं कहा जा सकता कि उसका स्वभाव सिद्ध अर्थात् निश्चित है। जब भी 'पुत्रस्तेजातः' इत्यादि हर्षाधायक पदों का उच्चारण होगा तो उन्हें सुनकर नियमित रूप से हर्ष की अनुभूति होगी ही।

१२. नाट्यशास्त्र, अभिनव भारती, (बड़ौदा १९५६), प्रथम भाग पृ० ३६

किन्तु रस के विषय में ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। क्योंकि विभावादि के साधारणीकरण से होने वाली काव्यजन्य रसाभिव्यक्ति नियत नहीं है अर्थात् ऐसा नहीं है कि जब-जब या जहाँ भी विभावादि का संयोजन होगा रसनिष्पत्ति होगी ही। अपितु विभावादि का संयोजन होने पर भी कभी किसी अनौचित्य या रसविरोध के कारण रस की निष्पत्ति नहीं हो पाती।

यहाँ पुत्रजन्म से होने वाले सुख का प्रतीक के रूप में प्रयोग किया गया है जिससे रति आदि सभी स्थायिभावों का ग्रहण कर आचार्य यह बताना चाहते हैं कि रत्यादि स्थायी भाव ही रस नहीं होते। अपितु वह उनसे सर्वथा विलक्षण तत्त्व है। यहाँ पुत्रजन्मजन्य हर्ष, प्रियजनमिलन, सम्मान की प्राप्ति, श्लाघा, विजय, आखेट एवं द्यूत प्रभृति उन सभी विषयों का ग्रहण हो जाता है जो वस्तु के रूप में गृहीत नहीं हो पाते अपितु इनसे प्राप्त होने वाले हर्ष या सुख की अनुभूति ही रस के समान मानसप्रत्यक्ष का विषय होती है।

उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि पुत्रजन्म आदि से होने वाली अनुभूतियाँ सिद्धस्वभाव अर्थात् नियत हैं अतः ये कार्य हैं जो अपने कारणों के उपस्थित होने पर सम्पन्न हो जाती हैं। पर रसानुभूति को कार्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता क्योंकि यदि इसे कार्य के रूप में ग्रहण करते हैं तो नियत पूर्ववृत्ति होने से विभावादि ही इनके कारण माने जायेंगे। पर कारण के ती प्रकार समवायि, असमवायि एवं निमित्त में से किसी का भी लक्षण इन पर घटित नहीं होता। ये समवायि कारण इसलिए नहीं हो सकते कि ये वह द्रव्य नहीं हैं जो रस के रूप में परिणत हो जाते हों। जिनमें यह क्षमता होती है कि कारणव्यापार के अनन्तर घट आदि कार्य के रूप में परिणत हो जाँय मृत्तिका आदि वे द्रव्य ही समवायिकारण होते हैं। काव्य में वर्णित विभावादि ही रस के रूप में परिणत नहीं हो जाते अपितु रस उनके द्वारा व्यञ्जित होता है।

यहाँ यदि यह कहें कि चूँकि स्थायी भाव ही विभावादि से उपचित होकर रस के रूप मे परिणत हो जाते हैं अतः उन्हें ही रस का समवायि या उपादान कारण कहा जा सकता है और इस प्रकार रस रूपी कार्य भी अपने समवायि कारण रूप स्थायी भाव से नियत रूप से संबद्ध होने से सिद्धस्वभाव सिद्ध हो जाता है। पर यह कथन इसलिए समुचित नहीं होगा कि रस के रूप में स्थायीभाव का उपचय होता है। मृत्तिका से घट के समान एक नई वस्तु का उद्भव नहीं। उपचय एवं अपचय कार्य-कारण-भाव का निर्माण नहीं करते।

कली का फूटकर पुष्प हो जाना उसका कार्य नहीं, अपितु स्वभाव है। ठीक इसी प्रकार स्थायिभावों का आस्वादनोन्मुख होना उनका कार्य नहीं अपितु स्वभाव ही है। किन्तु जिस प्रकार पुष्प के रूप में विकसित होकर कली कली नहीं कहलाती उसी प्रकार रस के रूप में उपचित स्थायिभाव स्थायी नहीं रह जाते।

विभावादि रस के असमवायि कारण भी नहीं हो सकते। क्योंकि किसी कार्य का असमवायि कारण उसके समवायि कारण में रहने वाला ही कोई धर्म हो सकता है। विभावादि ऐसे नहीं हैं कि इनको काव्यगत किसी तत्त्व का धर्म कहा जा सके। फिर भी यदि ये कारण हैं तो इन्हें निमित्त कारण ही मानना होगा। क्योंकि जो तत्त्व न समवायि कारण, न ही असमवायि कारण हैं फिर भी कारण होते हैं उन्हें ही निमित्त कारण कहा जाता है। पर निमित्त कारण और कार्य का सम्बन्ध यह है कि कार्य के उत्पन्न हो जाने पर निमित्तकारण के विनाश से कार्य का नाश नहीं होता। जबकि समवायि एवं असमवायि कारणों के विनाश से कार्य का सद्यः नाश हो जाता है। विभावादि और रस का सम्बन्ध ऐसा नहीं है। वह तो तभी तक बना रहता है जब तक विभावादि रहते हैं। विभावादि के हटते ही रस भी न जाने कहाँ अन्तर्हित हो जाता है। यह तथ्य सार्वभौम रूप से अनुभव सिद्ध ही है। इसीलिये रस को 'विभावादिजीवितावधि' कहा गया है। पुत्रजन्म से होने वाली हर्ष आदि चित्त की ऐसी वृत्तियां हैं जो शब्दप्रयोग आदि कारणों से उत्पन्न होती हैं। अतः पर्याप्त काल तक बनी भी रहती हैं। उनसे विलक्षण एवं सर्वथा भिन्न कोटि की रसानुभूति होती है यह बताने के लिए ही इसे अलौकिक, लोकोत्तर अथवा ब्रह्मानन्दसहोदर आदि कहा गया है।

(ग) पुत्रजन्म का समाचार अथवा परीक्षा में अप्रत्याशित रूप से प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने का समाचार श्रोता में जिस प्रकार की चित्तवृत्ति का निर्माण करते हैं विभावादि पदार्थ प्रेक्षक या पाठक में ठीक उसी प्रकार की चित्तवृत्ति का निर्माण नहीं कर पाते। क्योंकि यहाँ शब्द के द्वारा विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति उत्पन्न करने के अतिरिक्त अर्थ का ध्वनन व्यापार भी साथ ही साथ काम करता रहता है—

विभावाद्यर्थोऽपि न पुत्रजन्महर्षन्यायेन तां चित्तवृत्तिं जनयतीति जननातिरिक्तोऽर्थस्यापि व्यापारो ध्वननमेवोच्यते।[13]

---

१३. ध्वन्यालोक, लोचन १.४

(घ) पुत्रजन्म एवं परीक्षा में उत्तीर्णता से होने वाले हर्ष से काव्यजन्य रसानुभव की विलक्षणता इसलिए भी है कि उक्त स्थलों में शब्द का प्रयोग अनिवार्य है जबकि रस के विषय में शब्दतः प्रतिपादन रस-निष्पत्ति में बाधक ही होता है साधक नहीं चाहे वह रसों के लिए प्रयुक्त हुआ हो या स्थायी या संचारी भावों के लिए।

(ङ) रसानुभूति की सबसे बड़ी विशेषता काव्यार्थ की वासना से अनुरंजित स्वसंविदानन्दचर्वणा है। यहाँ विभावानुभाव से उत्पन्न तदनुरूप चित्तवृत्ति की वासना से स्वसंवित् अर्थात् आत्मज्ञान भी होने लगता है। यहाँ जो चित्तवृत्ति बनती है मात्र वही अनुभव का विषय नहीं होती अपितु तन्मयीभाव के द्वारा रत्यादि भावों से संवलित चैतन्य तत्त्व की भी अनुभूति होने लगती है जो स्पष्टरूप से अन्य प्रकार की लौकिक अनुभूतियों को तिरस्कृत कर देने से अलौकिक ही कही जा सकती है—

अनुभावविभावबोधनोत्तरमेव तन्मयीभवनयुक्त्या तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिवासनानुरञ्जितस्वसंविदानन्दचर्वणागोचरोऽर्थो रसात्मा स्फुरत्येवाभिलाषचिन्तौत्सुक्यनिद्राधृतिग्लान्यालस्यश्रमस्मृतिवितर्कादिशब्दाभावेऽपि।[१४]

रस की अलौकिकता के विषय में अभिनवगुप्त के मन में कोई विसंवाद नहीं है। उनका यह स्पष्ट मत है कि रस के विषय में लौकिक प्रत्यक्ष आदि प्रमाण घटित नहीं होते अपितु वहाँ अलौकिक विभावन व्यापार ही रसानुभूति कराने में समर्थ होता है। रसानुभूति एक ऐसा अनुभव है जिसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा प्राप्त नहीं ही किया जा सकता। वह तो यौगिकप्रत्यक्ष से भी भिन्न प्रकार का अनुभव है जिसमें प्रत्यक्षादि प्रमाणों का कोई योग नहीं होता। यौगिक साक्षात्कार दो प्रकार का होता है—मित एवं परिमितेतर। मितयोगी को स्वपरसंवेदन होता रहता है किन्तु परिमितेतर योगी का ज्ञान सकल वैषयिक उपराग से शून्य विशुद्धरूप से एक घन आत्मा का अनुभव होता है। रसानुभव मितयोगी ज्ञान से भी विलक्षण इसलिए है कि मितयोगी के ज्ञान में अपने और पराये का बोध बना रहता है जिसे स्वपरसंवेदन कहते हैं। परन्तु रसानुभूति में व्यक्ति विगलित वेद्यान्तर हो जाता है तथा उसे यह बोध नहीं रहता कि किसके रत्यादि भावों का वह अनुभव कर रहा है। रसानुभूति की परिमितेतर यौगिक ज्ञान से भिन्नता इस बात को लेकर है कि रसानुभूति रत्यादि विषयों के संस्कार से संवलित होती है जब कि परिमितेतर योगी के संवेदन में विषयों के किसी भी प्रकार के संस्पर्श का सर्वथा

---

१४. ध्वन्यालोक, लोचन १।४

अभाव होता है चाहे वह साक्षात् हो या संस्कार के रूप में । इसलिए चर्वणोपयोगी विभावादि व्यवहार एवं उससे होने वाले आस्वादनात्मक अनुभव रस को अलौकिक ही मानना चाहिए ।[१५]

(लृ) महिमभट्ट

रस की अलौकिकता के विषय में ध्वनिविरोधी आचार्य महिमभट्ट का मत भी सर्वथा विलक्षण है। ये वस्तुवादी आचार्य हैं जो रस को आत्मानुभव या ब्रह्मास्वादसहोदर कथमपि स्वीकार नहीं करते । यहाँ तक कि रसानुभूति के लिए आनन्द पद का प्रयोग भी इन्होंने कहीं नहीं किया है । ये उसे सुखास्वाद मात्र कहते हैं तथा उसे काव्य में वर्णित लौकिक विषयवस्तु का ही अनुभव प्रमाणित करते हैं। इन्होंने स्वयं प्रश्न उठाया है कि काव्य में रति आदि लौकिक भावों के निरूपण से सामाजिक के हृदय में चमत्कारी सुखास्वाद कैसे उत्पन्न होता है ? लोक से काव्य में कोई मौलिक भेद नहीं होता जिससे कि रसात्मक यह अनुभव केवल काव्य से ही सम्भव हो लोक में नहीं। हेतु, कार्य एवं सहकारी कारण रूप में अवस्थित लौकिक विषय ही काव्य में विभावादि के रूप में निरूपित किये जाते हैं जिनसे रति आदि वे लौकिक भाव ही गम्य होते हैं जो प्रत्येक व्यक्ति के मानस पटल पर उभरते और विलीन होते रहते हैं तथा जिन्हें जीवन की एक विशेष अवस्था कहते हैं । अतः काव्य में वह कौन सा वैशिष्ट्य है जिससे उसी से रसास्वाद होता है लोक में नहीं ।[१६]

इसका समाधान करते हुए व्यक्तिविवेककार कहते हैं कि जहाँ पर विभावानुभावव्यभिचारिभावों के द्वारा रत्यादि स्थायिभावों का बोध होता है वहीं पर अर्थात् केवल काव्य में ही रसास्वाद का उदय हो सकता है वह भी मात्र सहृदयसंवेद्य होता है । यह वर्ण्यवस्तु का ही स्वभाव है कि लोक में साक्षात् प्रत्यक्ष से उनसे सुख, दुःख और मोह आदि विविध प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं पर इनके काव्य में वर्णित होने पर जो अनुभूति होती है वह मात्र सुखात्मक ही होती है । वस्तु स्वभाव शास्त्रीय प्रमाण या तर्कों के द्वारा खण्डन-मण्डन का विषय नहीं होता—

यत्र विभावादिमुखेन भावानामवगमस्तत्रैव सहृदयैकसंवेद्यो रसास्वादोदय

१५. अभिनवभारती, भाग १, (बड़ौदा, १९०९), पृ० २८४-८५
१६. व्यक्तिविवेक, (तिरुवेन्द्रम्, १९०९), प्रथम विमर्श, पृ० १२

इति वस्तुस्वभाव एवायम् । न पर्यनुयोगपदवीमवतरति प्रामाणिकानाम् ।[१७]

महिमभट्ट श्री शंकुक के रसानुमिति पक्ष के समर्थक हैं। उनके अनुसार रस अनुमेय है जिसके अनुमापक हेतु विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव होते हैं। किन्तु रस का यह अनुमान धूम से वह्नि के अनुमान के समान नहीं होता। क्योंकि धूम को देखकर अनुमित दूरस्थ अग्नि की उष्णता का अनुभव अनुमाता व्यक्ति नहीं कर सकता, जबकि विभावादि हेतुओं से अनुमित रत्यादि भावों का साक्षात् अनुभव ही रस कहलाता है। इसीलिए इसे अन्यानुमीयमान विलक्षण कहा गया है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि रसानुभूति लौकिक नहीं अपितु अलौकिक है। इसीलिए लौकिक कार्य-कारण-भाव भी वहाँ नहीं बनता। लोक में तत् तद् विषयों से केवल सुख का ही अनुभव नहीं होता, न ही लौकिक अनुमान आस्वादपरक होता है। काव्य में ही यह सब होता है। यही काव्य की लोकोत्तरता है।

महिमभट्ट का मत है कि कवि की प्रतिभा से काव्य में वर्णित उन्हीं लौकिक विषयों में सहृदय सामाजिक को तन्मय कर देने की क्षमता हो आती है। अतः उनका प्रत्यक्षतः अनुभव करने की अपेक्षा काव्य के माध्यम से होने वाला अनुभव अधिक गहन होता है—

कविशक्त्यर्पिता भावास्तन्मयीभावयुक्तितः ।
यथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाध्यक्षतः किल ॥[१८]

(ए) भोज

रस की अलौकिकता के विषय में शृङ्गारप्रकाश के कर्ता महाराज भोज का मत अपने आप में ही विलक्षण है। इन्होंने इस विषय का विवेचन बहुत विस्तारपूर्वक तो नहीं किया किन्तु यहाँ भी अपना स्वतंत्र मत व्यक्त करने से वे नहीं चूके हैं। उनका मत रस को अलौकिक कहने वाले पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों की प्रतिक्रिया रूप में प्रकट हुआ प्रतीत होता है, सैद्धांतिक विवेचन के रूप में नहीं। इनका कहना है कि काव्यपरक किसी भी रचना के पीछे कीर्ति और प्रीति जो दो तत्त्व निहित होते हैं उनको लोक में पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त है। क्योंकि लोक का कोई भी कार्य या तो यशः प्राप्ति की कामना से किया जाता है या सुखोपलब्धि के लिए। अतः कीर्ति और प्रीति के उद्देश्य से प्रेरित होकर जब कवि काव्यरचना में प्रवृत्त होता होता है तो उसे

---

१७. व्यक्ति विवेक, (तिरुवेन्द्रम्, १९०९), प्रथम विमर्श, पृ० १२
१८. वही „ „ पृ० १४

अलौकिक कहना उसके प्रयास को निरर्थक बताना है। काव्य रस की अलौकिकता का निराकरण इसलिए भी हो जाता है कि उससे समस्त लोक का ही अनुरंजन होता है। अतः काव्यजन्य अनुभूति को अलौकिक कहना अपने आप में वदतोव्याघात तो है ही, कवि के काव्यरचना विषयक उत्तम प्रयास को प्रकारान्तर से व्यर्थ सिद्ध करना भी है जो सर्वथा असंगत है—

'समस्तलोकरञ्जकत्वमित्यनेन अलौकिकतां परिहरन् कीर्तिप्रीतिनिबंधनस्य प्रबन्धस्य लोके प्रतिष्ठया कवेः प्रयासवैयर्थ्यमपाकरोति ।[१९]

इससे स्पष्ट है कि भोज अपने पूर्ववर्ती भट्टनायक के द्वारा प्रतिपादित रस की अलौकिकता के सिद्धांत से सहमत नहीं हैं। उन्हें सैद्धांतिक विवेचन तो दूर की बात है काव्य रस के सम्बन्ध में अलौकिक पद का प्रयोग भी खटकता है।

(ओ) मम्मट

आलंकारिक सरणि के व्यवस्थापक आचार्य मम्मट ने रस की अलौकिकता के विषय में अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहा है। रससूत्र की व्याख्या में अपने पूर्ववर्ती आचार्य अभिनवगुप्त के पक्ष के उपस्थापन के प्रसंग में ही इन्होंने विभावादि एवं रस के लिए अलौकिक पद के प्रयोग किये हैं। अभिनवगुप्त के मत को इन्होंने संक्षिप्त एवं व्यवस्थित कर अपनी महनीय कृति काव्यप्रकाश में उद्धृत किया है। यहाँ विभावादि को इसलिए अलौकिक कहा गया है कि वे केवल काव्य में ही घटित होते हैं। काव्य में जिनको विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव की संज्ञा दी जाती है वे लोक में कारण, कार्य और सहकारी कहे जाते हैं। काव्य में इनकी विभावादि संज्ञा होने का कारण यही है कि वे वास्तविक रूप से विद्यमान न रहते हुए भी वर्णनमात्र से सहृदय सामाजिक को विषयों की भावना करा देते हैं। चूंकि लोक में विषयवस्तु के अभाव में उसकी भावना नहीं होती केवल काव्य में ही होती है अतः उन्हें अलौकिक कहना सर्वथा निराधार नहीं है अपितु काव्य में उनकी अस्वाभाविक अवस्था का परिचायक है।

रसानुभूति की अलौकिकता के विषय में यहाँ यह तर्क दिया गया है कि रस कार्य नहीं है, क्योंकि विभावादि उसके कारण सिद्ध नहीं होते और कार्य बिना कारण के सम्पन्न नहीं होता। अथवा रस कार्य इसलिए नहीं है कि वह

१९. शृङ्गारप्रकाश, द्वितीय भाग, (मैसूर, १९६३), पृ० ४७२

तो सहृदय सामाजिक के हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान रत्यादि भावों का ही अनुभव हैं। कार्य तो वही कहलाता है जो पूर्वतः विद्यमान नहीं होता तथा जिसकी नूतन सृष्टि होती है। किन्तु रस ज्ञाप्य अर्थात् पूर्वतः विद्यमान वस्तु का प्रकाशन भी नहीं है क्योंकि विभावादि से व्यंजित होकर ही वह आस्वादित होता है और आस्वादनावस्था ही रस है। इस पर शंका का होना स्वाभाविक है कि संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं मिलती जो न कार्य हो न ज्ञाप्य, फिर रस ही ऐसा कैसे हो सकता है ? इसके ही उत्तर में यहाँ कहा गया है कि अतएव रस अलौकिक है। क्योंकि लोक में कोई भी ऐसा भाव नहीं है जो कार्य और ज्ञाप्य दोनों की परिधि से बहिर्भूत हो—

स च न कार्यः विभावादिविनाशेऽपि तस्य संभवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासंभवात्। अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। कारक ज्ञापकाभ्यामन्यत्क्व दृष्टमिति चेत्, न क्वचिद्दृष्टमित्यलौकिकसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्।[२०]

काव्यरस की अलौकिकता का विधायक दूसरा तर्क उसके ग्राहक को लेकर दिया गया है। रस को प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही ग्राह्य माना जाता है। निर्विकल्पक और साविकल्पक भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार होता है। नाम जाति आदि की योजना से रहित ज्ञान को निर्विकल्पक एवं सहित को सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। रसानुभव यदि प्रत्यक्षप्रमाण ग्राह्य है तो इसके ग्राहक को निर्विकल्पक या सविकल्पक इन दोनों में से कोई एक होना चाहिए। किन्तु वह निर्विकल्पक इसलिए नहीं है कि उसमें विभावादि का परामर्श स्पष्ट रूप से होता रहता है। इस आधार पर उसे हम सविकल्पक भी नहीं कह सकते क्योंकि वह स्वसंवेदनसिद्ध अर्थात् केवल अनुभवात्मक होता है। सहृदय सामाजिक उसका आनन्दात्मक अनुभव मात्र करता है। वह यह नहीं बता सकता कि रसानुभव किस प्रकार का है। इसमें निर्विकल्पकता और साविकल्पकता दोनों का अभाव होते हुए भी उभयात्मकता भी है। यही इसकी लोकोत्तरता है। क्योंकि लौकिक प्रत्यक्ष का ग्राहक कोई भी विषय निर्विकल्पक एवं सविकल्पक उभयाभावस्वरूप या उभयात्मक नहीं होता—

तद् ग्राहकं च प्रमाणं न निर्विकल्पकम्। विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्।

---

२०. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास।

नापि सविकल्पकम् । चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य तस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लकोत्तरतामेव गमयति ।[३१]

काव्यप्रकाश में उद्धृत रस की अलौकिकता के विषय में उक्त युक्तियां मूलतः अभिनवगुप्त की ही हैं । इन युक्तियों के अनुसार रस को इसलिये अलौकिक माना गया है कि वह न कार्य की कोटि में आता है न ज्ञाप्य की । किन्तु कार्य-कारणभाव और ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव के जिस स्वरूप का निरूपण यहाँ किया गयाहै वह एक पक्षीय ही है । इसका एक दूसरा पक्ष यह भी है कि लोक में ही अनेक ऐसे निदर्शन विद्यमान हैं जिनमें कार्यकारण भाव के सम्यक् रूप से घटित न होने पर भी कार्यता स्वीकार की जाती है । इस तथ्य का निराकरण कोई भी नहीं करेगा कि रसात्मक अनुभव उत्पन्न होता है । ऐसी स्थिति में यदि विभावादि के साथ उसकी कारणता नहीं बनती तो हम उस अनुभव की वास्तविकता का सर्वथा अपलाप कैसे कर सकते हैं ? अतः हमारा प्रयास यह होगा कि हम उसके ऊपर कारणता का कोई अन्य लक्षण घटायें । उदाहरणतः मीमाँसकों के कारण के लक्षण का यहाँ उपयोग किया जा सकता है जो यह मानते हैं कि कार्य के साथ जिसका अन्वय व्यतिरेक बने वही कारण होता है—

'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्' ।

आचार्य आनन्दवर्धन ने विभावादि से रसादि की व्यञ्जनीयता को घटप्रदीप न्याय से उपपादित किया है । और दोनों के बीच में यौगपद्य स्वीकार किया है । उनका तर्क यह है कि जिस प्रकार दीपक स्वयं को प्रकाशित करता हुआ अपने आलोक की सीमा में विद्यमान घटपटादि को भी प्रकाशित करता है, ठीक उसी प्रकार विभावादि भी अपनी अनुभूति कराते हुए साथ ही साथ रस की भी अनुभूति कराते हैं ।

ज्ञापक के लिए भी यह अनिवार्य नहीं कि वह सर्वदा पूर्वतः विद्यमान वस्तु का ही प्रकाशन करे । अनेक बार ऐसा होता है कि प्रकृति के परिवर्तन कुछ लक्षणों द्वारा घटने के पूर्वतः ही उद्घोषित कर दिये जाते हैं जो अनन्तर सत्यापित भी होते हैं । ऐसी स्थिति में ज्ञाप्यता को प्रत्येक अवस्था में पूर्वतः विद्यमान मानना दुराग्रह ही प्रतीत होता है । इन स्थलों का विश्लेषण करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्यशास्त्र के कुछ आचार्यों को रस की अलौकिकता से व्यामोह सा हो गया है जिसकी अभिव्यक्ति 'इत्यलौकिकसिद्धेर्भू-

---

३१. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास ।

षणमेतन्नदूषणम्' वाक्यांश से सुतरां हो जाती है कि रस की अलौकिकता की सिद्धि ही उन्हें अभिप्रेत है ।

दूसरे तर्क में भी दोष प्रतीत होता है जहाँ यह युक्ति दी गई है कि रस का ग्राहक प्रमाण न निर्विकल्पक सम्भव है न सविकल्पक । चूँकि रस का ग्रहण विभावादि से होता है अतः विभावादि का ज्ञान ही रसानुभूति का ग्राहक प्रमाण है जिसकी परामर्शपरता के कारण उसे निर्विकल्पक नहीं कह सकते । किन्तु उसके सविकल्पक न कहे जाने की युक्ति समुचित नहीं प्रतीत होती । क्योंकि आनन्दमय स्वसंवेदन रस का ग्राहक प्रमाण नहीं अपितु प्रमेय के रूप में साक्षात् वही ग्राह्य है । ग्राह्य में नाम जात्यादि का परामर्श न होने से ग्राहक की सविकल्पकता का निराकरण कैसे हो सकता है । किन्तु आचार्य अभिनव गुप्त को तो रस की लोकोत्तरता सिद्धान्त के रूप में गृहीत है अतः उसकी लौकिकता के आधायक पक्षों में विरोध प्रदर्शित करना ही उनका लक्ष्य है । ऐसा प्रतीत होता है कि रसानुभूति के लिए स्वात्मपरामर्श अथवा स्वसंवेदन के सिद्धान्त के वशीभूत होकर ही अभिनवगुप्त उसे वैषयिक अनुभवों से सर्वथा व्यतिरिक्त सिद्ध करना चाहते हैं ।

(ऐ) विश्वनाथ

उत्तरकालीन आचार्यों में रस की अलौकिकता के प्रबल समर्थक आचार्य विश्वनाथ एवं पंडितराज जगन्नाथ हैं । विश्वनाथ ने अभिनवगुप्त की ही सरणि पर इसकी कार्यता, ज्ञाप्यता तथा इसके ग्राहक की निर्विकल्पकता एवं सविकल्पकता के साथ-साथ रस की नित्यता, अनित्यता, पूर्वोत्तरभाविता तथा अभिलापसंसर्गयोग्यता का भी निराकरण करते हुए उसे अलौकिक इसलिए कहा है कि यह अश्रुत एवं अदृष्ट पूर्व है । इस युक्ति का उपन्यास करते हुए सम्भवतः साहित्यदर्पणकार को यह तथ्य ध्यान में आया हो कि ऐसी स्थिति में रस को कपोलकल्पित कहा जा सकता है । अतः वे दृढ़ता पूर्वक कहते हैं कि अलौकिक होते हुए भी रस सहृदयों के द्वारा वास्तविक रूप में अनुभूत होता है । जिसमें उसकी चर्वणा ही प्रमाण है—

तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम् ।
प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषां मतम् ।।[२२]

रसानुभव को कार्य न मानने वालों के समक्ष एक बहुत बड़ा अवरोध भरत

---

२२. साहित्यदर्पण ३।२६

का रससूत्र है जिसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि बिभावानुभाव एवं व्यभिचारिभावों के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। निष्पत्ति ही उसके कार्य होने का प्रमाण है। इसका समाधान अलौकिकता वादी आचार्य यह कह कर करते हैं कि निष्पत्ति तो वस्तुतः चर्वणा की होती है रस की नहीं। क्योंकि वह तो स्वयंप्रकाश है। जो स्वयंप्रकाश है वह दूसरे के द्वारा निष्पादित कैसे हो सकता है ? अतः भरतसूत्र में रस निष्पत्ति 'सिंहो माणवाकः' के समान एक औपचारिक प्रयोग है। उपचार अतिशयित व्यापार अर्थात् बढ़ा चढ़ाकर कहने को कहते हैं—

निष्पत्त्या चर्वणस्यास्य निष्पत्तिरुपचारतः।[२३]

(औ) पण्डितराज जगन्नाथ

रस की अलौकिकता की साधक पंडितराज जगन्नाथ की युक्तियाँ कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उनका उद्‌घोष है कि रस की अनुभूति में होने वाला आनन्द किसी भी अन्य लौकिक आनन्द के समान नहीं होता क्योंकि सभी प्रकार के वैषयिक सुख प्रमाता के अन्तःकरण की वृत्ति होते हैं। रस ही एक ऐसा अनुभव है जो अन्तःकरण की वृत्ति के रूप में परिणित नहीं होता—

आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः, अनन्तःकरणवृत्तिरूपत्वात्।[२४]

रत्यादिभाव अन्तःकरण के धर्म होते हैं जो उनमें स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं। आत्मा के द्वारा अन्तःकरण के धर्मों के प्रकाशनपरक वेदान्त का साक्षिभास्य का सिद्धान्त यहाँ भी काम करता है—

अन्तःकरणधर्माणां साक्षिभास्यत्वाभ्युपगतेः।[२५]

पंडितराज का तर्क है कि जिस प्रकार मिट्टी के सकोरे आदि से ढका हुआ दीपक सकोरे को हटा देने पर अपने सन्निहित पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ स्वयं भी प्रकाशित होता है, ठीक उसी प्रकार आत्मचैतन्य ही विभावादि से संवलित रत्यादि भावों को जो अन्तःकरण के ही धर्म होते हैं, प्रकाशित करता हुआ स्वयं को भी प्रकाशित करता है और उसी की संज्ञा रस है।

पंडितराज का यह विवेचन वेदान्त दर्शन के सिद्धान्त पर आधारित है जिसके अनुसार आत्मतत्त्व के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों को अयथार्थ कहा गया है। घटपटादि बाह्य जितने भी पदार्थ हैं उनका प्रकाशन अन्तःकरण के

---

२३. सहित्यदर्पण ३।२७
२४. रसगंगाधर, (चौखम्भा) प्रथम आनन, पृ० ८७
२५. वही पृ० ८४

माध्यम से आत्मा के द्वारा ही होता है। किन्तु अन्तःकरण की सुख दुःख आदि आभ्यन्तर वृत्तियों का प्रकाशन आत्मा साक्षात् ही करता है। इसी को साक्षी आत्मा के द्वारा भास्य अर्थात् प्रकाशित होने का सिद्धान्त कहते हैं। अतः जिस प्रकार रांगे में रजत की तथा स्वप्न में घोड़े हाथी आदि की प्रतीति साक्षिभास्य के सिद्धांत से सुतरां उपपन्न हो जाती है, ठीक उसी प्रकार के साक्षिभास्य सिद्धांत के अनुसार आत्मचैतन्य द्वारा विभावादि के प्रकाशन में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं—

विभावादीनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव, रङ्गरजतादीनामिव, साक्षिभास्यत्वमविरुद्धम् ।[२६]

यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि विभावादि की चर्वणा और रसानुभव में अन्तर है। विभावादि का प्रकाशन ही उसकी चर्वणा है जो अन्तःकरण का धर्म होने से उसकी वृत्ति रूप होता है। पर रस तो साक्षात् आत्मचैतन्य का स्वप्रकाशन ही है, अन्तःकरण की वृत्ति नहीं। क्योंकि आत्मा के अन्तःकरण का धर्म न होने से उसमें वृत्तिता नहीं आती। अतः चर्वणा एवं रस में मौलिक अन्तर है। रसानुभूति में अन्तःकरण के धर्म रत्यादि की वृत्ति ही संवलित होती है। अतएव चैतन्य के अंश को लेकर ही रस के नित्य, स्वप्रकाश एवं अलौकिक आदि विशेषण उपपन्न होते हैं। इसी लिए पंडितराज अभिनवगुप्त के द्वारा प्रतिपादित चिद्विशिष्ट रत्यादि को रस कहने के पक्ष में नहीं हैं अपितु वे उसे रत्यादि से अवच्छिन्न चित् ही कहना चाहते हैं जिसका अभिप्राय यही है कि अन्तःकरण के धर्म रत्यादि भावों की वृत्ति से संवलित आत्मचैतन्य का अनुभव ही रस है—

वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः ।[२७]

निर्विकल्पक समाधि में होने वाले परब्रह्मास्वाद से रसास्वाद की भिन्नता का आधायक आत्मानुभूति के साथ-साथ विभावादि संवलित रत्यादि की अनुभूति का होना है जो केवल काव्यव्यापार से ही सम्भव है।

काव्यरस की अलौकिकता के सम्बन्ध में पण्डितराज और अभिनव गुप्त के सिद्धांतों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। अन्तर केवल कहने से प्रकार में है। दशम शताब्दी के शैवाचार्य अभिनवगुप्त

---

२६. रसगंगाधर, चौखंभा, (१९५५), पृ० ८४

२७. वही पृ० ८८

एवं सत्रहवीं शताब्दी के प्रखर वेदान्ती आचार्य जगन्नाथ की अभिव्यक्तियों में काल-भेद के कारण भी अन्तर का होना स्वाभाविक है। यहाँ मतभेद इस बात को लेकर हो सकता है कि क्या सचमुच रसानुभव आत्मानुभव है जिसकी सत्ता में दर्शन की कुछ विधायें ही विश्वास करती हैं। काव्य रस के विवेचन को यदि दार्शनिक तर्क वितर्क से अलग करके सोचा जाय तो यह काव्यवस्तु के ही मानसप्रत्यक्ष के रूप में गृहीत होता है। उस स्थिति में भी महिमभट्ट प्रभृति वस्तुवादी आचार्य उसे विषयों के लौकिक अनुभव से भिन्न प्रकार का अनुभव मानते हैं तथा उसे अलौकिक की संज्ञा ही देते हैं। अतः न्यायादि दर्शनों में उपवर्णित अलौकिक प्रत्यक्ष के समान ही यदि रस को असाधारण अर्थात् अन्य प्रकार के अनुभव से विलक्षण अनुभव बताना ही अभिप्रेत है तो उसमें विप्रतिपत्ति के लिए किसी को कोई अवकाश दिखाई नहीं देता। संक्षेप में काव्यरस की अलौकिकता की यही मीमांसा है।

११

रससिद्धान्त : आधुनिक परिप्रेक्ष

साहित्यरस विषयक यह विवेचन अब तक संस्कृत के आचार्यों को लेकर किया गया हैं जिसकी एक निश्चित धारा है । इसमें भरत से लेकर पण्डित-राज जगन्नाथ तक के आचार्य आते हैं। इन्होंने जो कुछ भी नई बात कही है वह सब इस धारा की सीमाओं के भीतर ही है।

ईसा की बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही अन्य देशों की तरह भारत में भी विज्ञान की प्रगति के साथ साथ साहित्यिक गति विधियों में तेजी आई। जीवन के मूल्यों के साथ ही साथ साहित्यिक मान्यताओं में भी परिवर्तन का आना स्वाभाविक था जो आया भी। इसका प्रभाव प्रायः भारतीय सभी भाषाओं के साहित्य पर पड़ा। चूंकि हिन्दी भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का अंग बन गई थी अतः हिन्दी साहित्य पर यह प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक ही पड़ा । इसके साथ ही पुरानी मान्यताओं को नये रूप में उपस्थापित करने के भी प्रयास होते रहे। शताब्दियों पूर्व से ही हिन्दी में जो एक परम्परा प्रचलित हो चली थी उसमें अलंकारों के नाम पर बाल की खाल निकालने तथा रस के नाम पर नायिका-भेद चित्रण की ही प्रमुखता थी। रस या उसके शास्त्रीय विवेचन को लेकर कोई भी ऐसी बात किसी ने नहीं कही जिसका उल्लेख किया जा सके।

इसी बीच मनोविज्ञान, दर्शन एवं समाजशास्त्र आदि के साथ साथ ही पाश्चात्य-समीक्षा-शास्त्र का अध्ययन भी हमारे देश में होने लगा । काव्य के स्वरूप एवं प्रतिपाद्य को लेकर नए सिरे से विचार की बात भी उठी। साहित्यसमीक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य विचारों की बाढ़ सी आती दिखने लगी । उन्हीं दिनों कविवर प्रसाद ने साहित्य की शास्त्रीय-समीक्षा के ऊपर कतिपय निबन्ध लिखे जो अनन्तर 'काव्य और कला' के नाम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित भी हुए। इसमें काव्य-सामान्य एवं रस पर भी कुछ निबन्ध हैं।

प्रसाद के ही शब्दों में काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है। प्रसाद का यह कथन इस बात की पुष्टि में स्वतः प्रमाण है कि वे रसवादी थे।

इनकी दृष्टि में रस केवल काव्य का ही नहीं अपितु जीवन का भी सर्वस्व है जिसे वे आनन्द की संज्ञा देते हैं। काव्य वह कला है जिसमें आनन्दांश या तल्लीनता की मात्रा सर्वाधिक होती है।

प्रसाद के काव्यविषयक या रसविषयक विचारों के ऊपर प्रसिद्ध शैवाचार्य अभिनव गुप्त का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। इनकी मान्यता है कि भारतीय साहित्य के इतिहास में काव्य का विशुद्ध रूप तो वैदिक वाङ्मय में ही उपलब्ध होता है जहाँ आनन्दवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है। अलंकारमयी रचना जिसमें रीति एवं वक्रोक्ति भी समाविष्ट हैं, बुद्धिवादियों द्वारा पौराणिक कथानकों का आश्रय लेकर रसवाद (आनन्दवाद) के विरोध में खड़ा किया गया पक्ष है। अतः वहाँ काव्यता वास्तविक रूप में नहीं है। चूंकि रस की अनुभूति नाट्य में ही अपने पूर्णरूप में होती है इस लिए नाट्य ही वास्तविक रूप में काव्य हैं। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' की उक्ति का यही अभिप्राय है।

पाश्चात्य मनीषियों के 'व्यक्तिवैचित्र्यवाद' एवं यथार्थवाद आदि का विवेचन भी प्रसाद ने किया है और उनके अनुसार काव्य से होने वाले चरित्र-शोधन की बात को भी प्रसाद ने सही नहीं माना है। उनका कहना है कि भारतीय रसवाद में मिलन अर्थात् अभेद-सुख की सृष्टि ही मुख्य है। रस में लोकमंगल की भावना प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित होती है। रसवाद में वासनात्मक रूप में स्थित मनोवृत्तियाँ जिनसे चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं। इसलिए वह वासनाओं का संशोधन न करके उनका साधारणीकरण करता है।

प्रसाद के रसविषयक विचारों का विशेष रूप से ऊहापोह करने की आवश्यकता नहीं। वे तो काव्यरस और आध्यात्मिक रस में कोई भेद ही नहीं मानते। उनकी दृष्टि में भाव साक्षात् आत्मा का अभिनय है। भाव ही आत्म-चैतन्य में विश्रान्ति पा जाने पर रस पदवी धारण कर लेते हैं।

प्रसाद की मान्यताओं से आचार्य रामचन्द्रशुक्ल कथमपि सहमत नहीं। उन्होंने तो काव्य रस की आध्यात्मिकता का सर्वथा निरसन कर उसे लौकिक धरातल पर प्रतिष्ठित माना हैं। शुक्ल जी का कहना है कि जिस रूप में रसास्वादन हमें होता है उसकी अभिव्यक्ति 'आनन्द' शब्द से नहीं हो पाती। आनन्द के लोकोत्तर एवं अनिर्वचनीय विशेषणों से न तो उसके अवाचकत्व का परिहार होता है न प्रयोग का प्रायश्चित्त। दुःखान्त कथा पढ़कर कुछ देर तक तो चित्त खिन्न बना रहता ही है। वह पूछना चाहते हैं कि

करुण और विप्रलंभ में चित्त का द्रुत होना क्या आनन्दगत है? शुक्लजी के ही शब्दों में इस 'आनन्द' शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत कम कर दिया है। उसे नाच तमाशे की तरह बना दिया है। यही स्थिति 'चमत्कार' शब्द की भी है। चमत्कार का आधायक तत्त्व अद्भुत या असाधारण होता है। अतः जहां असाधारणता होगी वहीं रस का परिपाक संभव है अन्यत्र नहीं। चमत्कारवादियों की यह मान्यता शुक्ल जी की दृष्टि में कथमपि ग्राह्य नहीं। शुक्लजी भी काव्य की आत्मा भाव या रस को ही मानते हैं। उनकी दृष्टि में अलंकार काव्य के बाह्य रूप हैं। उभयत्र कल्पना का ही योग होता है पर चूंकि काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य रस है अतः रस का आधार खड़ा करने वाला जो विभावन व्यापार है, काव्यात्मक कल्पना का प्रधान क्षेत्र वही है। कवि की इस कल्पना का आधार शुक्ल जी अनुभूति या रागात्मिका वृत्ति को मानते हैं। उनका कहना है कि अनुभूत्यात्मक यह वृत्ति जितनी अधिक व्यापक होगी कवि की रचना उतनी ही अधिक सशक्त एवं प्रभावोत्पादक बनेगी। शुक्ल जी की दृष्टि में व्यापकता का अर्थ अधिकाधिक सहृदयजनमनःसंवेद्य होना है। रस के सन्दर्भ में कविकल्पना की व्यापकता ही साधारणीकरण का रहस्य है।

साधारणीकरण के विषय में शुक्ल जी ने एक मौलिक प्रश्न उठाया है। उनका कहना है कि साधारणीकरण का अर्थ है विशेष के भावों की सामान्य के रूप में प्रतीति। किन्तु बिम्ब तो विशेष के ही बनते हैं सामान्य के तो हो नहीं सकते। फिर सामाजिक को होने वाली प्रतीति में किसका बिम्ब बनता है? नाटक में प्रदर्शित शकुन्तला को यदि प्रेक्षक शकुन्तला के रूप में ही ग्रहण करता है तो उसे रसानुभूति नहीं होगी। साधारणीकरण होकर यदि वह उसे सामान्य नायिका लगती है तो किस प्रकार? क्योंकि सामान्य का तो कोई स्वरूप नहीं होता। अतः उसका ग्रहण किसी न किसी विशेष के बिम्ब का आश्रय लेकर ही होगा। शुक्ल जी राय में यदि किसी की अपनी कोई प्रियतमा है तो उसके रूप में ही वह बिम्ब-ग्रहण होगा अथवा प्रत्येक व्यक्ति के मन में उसकी रुचि एवं अभिलाषा के अनुरूप एक आदर्श बिम्ब होता है। उस के सहारे रसानुभूति हो सकती है। यही स्थिति शोकादि भावों की रसात्मक अनुभूति में भी होती है। पर शुक्ल जी की यह धारणा स्वयं चाहे कितनी हूँ युक्तिसंगत क्यों न लगे, साधारणीकरण के मूलसिद्धान्त पर कुठारघात ही है। साधारणीकरण सिद्धान्त के उद्भावक आचार्य भट्टनायक ने 'न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते' की उक्ति से उक्त दोनों प्रकार की संभाव-

नाओं का स्पष्ट रूप से निराकरण कर दिया है । क्योंकि यदि शकुन्तला की प्रतीति अपनी प्रियतमा के रूप में होती है तो वह आत्मगतत्वेन कही जायगी और ऐसा होने पर हमें रस के स्थान पर व्रीडा तंका का अनुभव होना चाहिए और यदि ताटस्थ्येन अर्थात् अच्छी लगने वाली जिस किसी नायिका के रूप में होती है तो 'किसी भले आदमी को उससे क्या मतलब', यह सोचकर विरसता आ जायगी। आचार्य आनन्दवर्धन ने भी इसी प्रश्न को एक अन्य प्रकार से उठाया है और शुक्ल जी की तरह ही सामान्य का आश्रयण कर काव्यप्रवृत्ति होने की बात को अनुपयुक्त ठहराया है । उनका मत है कि काव्य का निबन्धन कवि की अपनी एवं दूसरों की अनुभूतियों को मिलाकर अर्थात् सामान्यरूप का आश्रयण कर नहीं होता। कवि की प्रवृत्ति तो विशेष रूपों को ही लेकर होती है। उनके साधारणीकरण का नियामक कवि का औचित्य बोध है। इसीलिए आनन्द ने औचित्य के उपनिबन्धन को रस की परा उपनिषद् (परमरहस्य) कहा है।

जहाँ तक शुक्ल जी के विवेचन का सम्बन्ध है इसमें दो राय नहीं कि उसमें नवीन दृष्टि के समावेश के साथ उलझावमय पुरातन का बोधगम्य रूप भी उपलब्ध होता है । आनन्दवर्धन के बाद भारतीय साहित्य की शास्त्रीय मीमांसा की सहज गंगाधारा जो अभिनवगुप्त रूपी शिव की जटा में समाकर क्या निकली लगभग एक सहस्राब्द तक शैव, वैष्णव, द्वैत, अद्वैत एवं त्रैत सिद्धान्तों के दलदल में फंसकर विलीन हो गई थी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के भगीरथप्रयास से वह पुनः अपने सहज निर्मल रूप में प्रवाहित हुई प्रतीत होती है जिसका अवगाहन कर सकल सहृदय मन विशद हो जाता है ।

आचार्य शुक्ल के बाद इस प्रसंग में सर्वप्रमुख नाम है डा० नगेन्द्र का । 'आलोचक की आस्था' में संकलित इनके निबन्धों को पढ़ने से लगता है कि इनमें आलोचक होने की तीव्र-संवेदना आरम्भ से ही रही है। अतएव इन्होंने काव्यशास्त्र को ही विशेष रूप से अपने अध्ययन का विषय बनाया और उसी के फलस्वरूप आज वे हिन्दी में मूर्धन्य आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित हैं। आचार्य शुक्ल एवं डा० नगेन्द्र के वैदुष्यमय व्यक्तित्व में पर्याप्त साम्य परिलक्षित होता है। दोनों ही भावयित्री प्रतिभा के सहज धनी हैं। दोनों गंभीर विद्वान् हैं तथा इनका साहित्य-बोध अत्यंत निर्मल है। दोनों ने ही साहित्य की समीक्षा में 'रससिद्धान्त' की प्रतिष्ठा के लिए महान् प्रयास किया है। अतः यह कहना अयथार्थ नहीं है कि साहित्यालोचन के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल के बाद डा० नगेन्द्र ने ही अनामिका को सार्थवर्ती रहने नहीं दिया ।

डा० नगेन्द्र 'शब्दार्थ के माध्यम से भाव की कलात्मक अभिव्यक्ति' को ही काव्य मानते हैं। इनका मत है कि भाव, कल्पना एवं बुद्धि में से भाव ही काव्य का आधारभूत तत्त्व है, शेष सहायक मात्र हैं। इससे स्पष्ट है कि डा० नगेन्द्र भी भरत, अभिनवगुप्त, भोज एवं विश्वनाथ की परम्परा में एक रसवादी आचार्य हैं जिनकी मान्यता हैं कि रस ही काव्य का प्राणभूत तत्त्व है। इनकी दृष्टि में 'रसात्मक वाक्य' का अर्थ है शब्दार्थ का ऐसा प्रयोग जो सहृदय के चित्त को व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त कर रत्यादि स्थायिभावों के माध्यम से आत्मानन्द प्रदान करता है। आधुनिक शब्दावली में इसे शब्दार्थ का ऐसा प्रयोग कहेंगे जो सहृदय सामाजिक को रागात्मक-कलात्मक आनन्द प्रदान करता है। यहाँ 'रागात्मककलात्मक आनन्द' और रत्यादि के माध्यम से प्राप्त होने वाले 'आत्मानन्द' को एक ही माना गया है जो चिन्त्य है। पर 'रस का यह आस्वाद विषयगत न होकर विषयिगत अर्थात् आस्वादयिता की ही स्वानुभूति है' से यह स्पष्ट है कि इनके अनुसार काव्यरस की अनुभूति आनन्दमयी ही होती है और आनन्द ही आत्मा का लक्षण है। यहाँ डा० नगेन्द्र शुक्लजी हटकर आचार्य अभिनवगुप्त के अधिक निकट आ गये हैं जिनके मत से 'स्वात्मपरामर्श' ही रस है।

डा० नगेन्द्र का स्पष्ट मत है कि रसानुभूति का आस्पद मानव संचेतना है। रुचि एवं प्रकृति भेद की बहुलता होने पर भी जो आनन्दात्मक संवित् रसानुभूति के रूप में सकल सहृदय सामाजिक को होती है उसकी एकरूपता या तद्रूपता का कारण यही मानव संचेतना है। आचार्य शुक्ल ने रसनिष्पत्ति के प्रसंग में नैतिकता को बहुत महत्त्व दिया था। उनका कहना है कि कवि की कृति में विषयों का उपस्थापन जितना ही अधिक नैतिकता के आधार पर होगा उतना ही वह अधिकाधिक व्यक्तियों की रुचि एवं प्रकृति के अनुकूल बनेगी। इसी को उन्होंने साधारणीकरण का रहस्य बताया है। डा० नगेन्द्र का इस मानव संवेदना को रसोपनिषत् कहना व्यापकता एवं प्रभाव की दृष्टि से अधिक संगत है।

डा० नगेन्द्र रसानुभूति को एक प्रकार का आत्मानुभव ही मानने हैं पर पण्डिराज जगन्नाथ की तरह यहाँ वे चैतन्य के आवरणभंग द्वारा विहित आत्मतत्त्व की साक्षात् अनुभूति की दशा नहीं स्वीकार करते। मानवीय रागात्मिका वृत्ति के पुट का रसानुभूति के प्रसंग में वे बहुत अधिक योग स्वीकार करते हैं। अतएव ये ब्रह्मास्वाद और काव्य जन्म आस्वाद में मौलिक रूप से अन्तर मानते हैं।

अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों में गुजराती के आनन्द शंकर ध्रुव का नाम इस प्रसङ्ग से विशेष रूप में उल्लेखनीय है। डा० ध्रुव में साहित्यालोचन की प्रतिभा कूट कूट कर भरी थी। इस विषय में 'काव्यतत्त्व-विचार', 'साहित्यविचार' एवं 'दिग्दर्शन' नामक उनके तीन ग्रन्थ एवं 'वसन्त' नामक पत्रिका में प्रकाशित अनेक निबन्ध हैं। इन्होंने पश्चिम के साहित्यिक सिद्धांतों के आधार पर संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में प्रतिपादित काव्यतत्त्वों एवं सिद्धांतों की व्यापक रूप से व्याख्या की है। साथ ही संस्कृत के काव्यशास्त्र के अनुसार पश्चिम की मान्यताओं की आलोचना भी की है। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से साहित्य की आलोचना करने वालों में डॉ० ध्रुव की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

डॉ० ध्रुव कविता को अलौकिक ज्ञान की संज्ञा देते हैं जो शब्दार्थ के रूप में आत्मा का आविर्भाव है। अतएव वह आनन्ददायिनी होती है। उनकी राय में काव्य के वास्तविक स्वरूप की अभिव्यक्ति भवभूति की उक्ति 'अमृतामात्मनः कलाम्' से हुई है। उनकी दृष्टि से कविता चैतन्य तत्त्व से युक्त और आत्मवत् विकासशील होनी चाहिए।

काव्यजन्य रसानुभूति के विषय में उनका मत स्पष्ट है कि रस भावक के हृदय में भी है और वस्तु में भी। पर उसकी विशेषता यही है कि वह सभी देश और काल में सभी के अनुभव का विषय होता नहीं रहता। अपितु विशिष्ट प्रमाता को भी किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही रसानुभव होता है। उनके मत से रसानुभव विषय-वासना से सर्वथा असंपृक्त आध्यात्मिक अनुभव है। कवि जो अनुभव हमें देता है वह विषयों से मुक्ति का आनन्द है। काव्य वस्तु नैतिकता से ओत-प्रोत होनी चाहिए। अनैतिकता का अल्पांश भी रस को भंग करने के लिये पर्याप्त होता है। काव्य का लक्ष्य ही व्यक्ति को आनन्द-मन्दाकिनी के निर्मल जल में अवगाहन कराना है। चूंकि रसानुभूति में विषयों की वासना का योग रञ्च मात्र भी नहीं रहता अतः रस एक प्रकार की अलौकिक अभूनुति ही है।

डॉ० ध्रुव के काव्य एवं रस सम्बन्धी विचारों को सिद्धान्त की कोटियों में बाँधना सर्वथा असंभव है। वे काव्य की घटनाओं एवं पात्रों को सचमुच घटी घटनाओं एवं उनमें कार्यरत व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक यथार्थ मानते हैं। उक्त विचार आधुनिक युगबोध के अनुरूप होते हुये भी काव्यसिद्धान्त की कसौटी पर कसे जाने लायक नहीं है। इन्होंने रस के स्वरूप एवं उसकी परिभाषाओं से उठने वाले विसंवादों की चर्चा बिलकुल नहीं की है। अतः

रस एवं काव्यानुभूति के विषय में इनके कुछ उद्गार ही व्यक्त हुये हैं ।

डॉ० ध्रुव एवं आचार्य शुक्ल के रसानुभूति विषयक विचारों में साम्य नैतिकता को लेकर है। दोनों ही विभावादि के साधारणीकरण का रहस्य नैतिकता को मानते हैं। डॉ० ध्रुव का विवेचन सामान्य रूप से कविता को लेकर हुआ है। रस को अलग से विषय बनाकर इन्होंने कोई बात नहीं कही है ।

मलयालम साहित्य के उद्भट विद्वान् एवं उच्चकोटि के साहित्यकार प्रो० जोसफ मुण्डश्शेरी ने साहित्यालोचन के विषय में बहुत कुछ लिखा और कहा है। अपने 'काव्यपीठिका' नामक ग्रन्थ में प्रो० मुण्डश्शेरी ने साहित्य की भारतीय एवं पाश्चात्य उभयविध समीक्षा के मूलभूत तत्त्वों एवं सिद्धान्तों के समन्वय का स्तुत्य प्रयास किया है।

इनकी मान्यता है कि साहित्य को सच्चे अर्थ में समाज का दर्पण एवं जीवन का प्रतिबिम्ब होना चाहिये। पर किसी भी साहित्यिक रचना की उत्तमता की कसौटी होता है रस ही। प्रो० मुण्डश्शेरी की रससिद्धान्त में अटूट आस्था है। वे आचार्य अभिनवगुप्त के इस विधान से सर्वथा सहमत हैं कि वस्तु एवं अलंकार ध्वनियों की परिणति अन्ततः रसध्वनि में ही होती है। इनका मत महिमभट्ट के मत से भी बहुत साम्य रखता है जो रस को काव्य की आत्मा तो मानते हैं पर उसे काव्य का प्रतिपाद्य नहीं स्वीकार करते। वह तो कृत्याकृत्य विवेक का उपदेश ही हो सकता है ।

'नाटकान्तं कवित्वम्' नामक कृति में प्रो० मुण्डश्शेरी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कोई भी रचना सहृदय सामाजिक के हृदय को तभी आन्दोलित करने से समर्थ होती है जब उसमें अभिनेयता होती है। वस्तुतः वे प्रकारन्तर से यही कहना चाहते हैं कि रस काव्य का अनिवार्य तत्त्व है जिसकी निष्पत्ति के लिए काव्य को वर्णनीय कम एवं अभिनेय अधिक होना चाहिए। अतएव इन्होंने नाटक को कवित्व की चरम परिणति माना है । यहाँ वे अभिनव गुप्त के अत्यधिक सन्निकट हैं जो कह चुके हैं कि काव्य तो मुख्यतः दशरूपात्मक ही होता है। श्रव्य काव्यों में जहाँ भी रसानुभूति की प्रवणता परिलक्षित होती है उन सभी स्थलों में अभिनेयता का प्राचुर्य होता है ।

प्रो० मुण्डश्शेरी ने रस का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत न करते हुए भी कई बातें ऐसी कही हैं जिनसे रस के विषय में उनकी मान्यताओं की अभिव्यक्ति हो जाती है। रस को इन्होंने सिद्धान्त के रूप में विवेचित नहीं किया है अपितु उसका निरूपण ये मात्र तत्त्व के रूप में करते है तथा रस को काव्य का अनिवार्य तत्त्व मानते हैं ।

इनके अनुसार वही कविता सामाजिकों को रसानुभूति कराने में समर्थ हो पाती है जो काव्यार्थ एवं कविमानस के तादात्म्य से उद्भूत होती है। काव्य वस्तु के साथ कवि के अन्त:करण की तादात्म्यापत्ति को ही आचार्य महिमभट्ट ने कवि की प्रज्ञा कहा है, जो सर्जनात्मक मन:स्थिति के अनुरूप शब्दार्थ के चिन्तन में एक क्षण के लिए मग्न उसके चित्त में वस्तु के विशिष्ट स्वरूप की झलक से उत्पन्न होती है—

रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः ।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ।।[1]

भौतिक विज्ञान ने बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अनेक शास्त्रों को जन्म दिया। मनोविज्ञान उनमें से अन्यतम है जो मानव मन की गतिविधियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करता है। काव्य जन्य रसानुभूति भी एक मानसिक प्रक्रियात्मक बोध है। अतः इसके विश्लेषण के लिए मनोविज्ञान की प्रक्रिया का समाश्रयण सर्वथा अपेक्षित रहा है। वस्तुतः रस, भाव एवं उनके भेद प्रभेदों की स्थिति आधुनिक वैज्ञानिक सन्दर्भ में क्या है इसकी परीक्षा भी आवश्यक है। किन्तु विडम्बना यह है कि विज्ञान का विद्यार्थी रससिद्धान्त से परिचित नहीं है जो इस ओर उन्मुख हो और संस्कृत साहित्य शास्त्र के ज्ञाता को आधुनिक मनोविज्ञान की प्रक्रिया का ज्ञान होना भी दूर की बात है। पर इस कार्य को करने का बीड़ा उठाया मराठी साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक डा० केशव नारायण वाटवे ने जिनकी सन् १९४२ में ही प्रकाशित 'रसविमर्श' नामक कृति रससिद्धांत के इतिहास में अपना स्थान बना चुकी है।

डॉ० वाटवे की कृतियाँ मराठी में है पर वे संस्कृत भाषा एवं साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित हैं। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र की निखिल परम्परा से वे पूर्ण परिचित हैं तथा अभिनव भारती, लोचन एवं रसगङ्गाधर जैसी जटिल कृतियों के भी वे मर्मज्ञ हैं। साथ ही आधुनिक मनोविज्ञान का भी उनका अध्ययन गहन है। इस प्रकार संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में विवेचित रस सामग्री की मनोविज्ञान की सरणि पर परीक्षात्मक व्याख्या प्रस्तुत करने का इनका संकल्प रससिद्धान्त के प्रत्येक अध्येता के लिए एक वरदान सिद्ध हुआ है। आंख मूंद कर स्थायी, व्यभिचारी एवं सात्त्विक भावों के नाम एवं संख्या को

---

१. व्यक्तिविवेक, संग्रहकारिका २।११७

रटते रटते संस्कृत की साहित्यिक समीक्षा के विकास में जो गतिरोध उत्पन्न हो गया था ।उसे समाप्त करना आवश्यक था ।

डॉ० वाटवे ने रससिद्धान्त के विश्लेषण में आधुनिक मनोविज्ञान के योग से सर्वथा नई दृष्टि अपनाई है । यद्यपि दर्शन एवं सौन्दर्य परक शास्त्रों ने काव्यजन्य रसास्वाद की व्याख्या प्रस्तुत की है पर वह अपेक्षाकृत अधिक गूढ़ हो गया है । अतः रसविषयक सामग्री के मानसशास्त्रीय अध्ययन से रस के स्वरूप एवं उसकी निष्पत्ति की प्रक्रिया पर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है, यह सोचकर ही वे उधर प्रवृत्त हुए ।

भाव क्या हैं ? उनके स्थायी, व्यभिचारी एवं सात्त्विक होने का रहस्य क्या है ? विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों की सत्ता मात्र काल्पनिक है या उसमें यथार्थता का भी पुट है ? इनकी संख्या का निर्धारण कैसे हुआ ? इत्यादि अनेक ऐसे प्रश्न हैं जिनका समाधान संस्कृत के अलंकार शास्त्री के पास नहीं है । अतएव भोज एवं जगन्नाथ प्रभृति आलङ्कारिकों ने इसे भरत से चली आ रही परम्परा का पालन मात्र माना है जो दो सहस्र से भी अधिक वर्षों तक निरन्तर प्रयोग में आते आते रूढ़ हो गई है । इस सम्बन्ध में डॉ० वाटवे का स्पष्ट मत है कि भरत से अब तक लगभग ढाई हजार वर्ष की लम्बी कालावधि में मानवीय भावना एवं उसके विषयों में परिवर्तन का होना अनिवार्य है । इसलिए किसी भी साहित्य-शास्त्र को भावनाओं की संख्या एवं उनके स्वरूप के निर्धारण का दायित्व नहीं लेना चाहिए । क्योंकि ऐसा करना असंभव है । फिर भी डा० वाटवे का कहना है कि भट्टनायक अथवा अभिनव गुप्त द्वारा रसनिष्पत्ति की जिस प्रक्तिया का विवेचन किया गया है उसमें निहित साधारणी-करण व्यापार हमारे समीक्षाशास्त्र के भण्डार की अमूल्य निधि है ।

डॉ० वाटवे के अनुसार विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारि-भाव कवि की कल्पना से सम्बन्धित होकर काव्यगत होते हैं तथा स्थायीभाव सहृदय सामाजिक गत होता है । अतः कवि के द्वारा काव्य में विनियोजित विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव के सम्मिलित स्वरूप के द्वारा सहृदय सामाजिक के मन में स्थायी रूप से विद्यमान रति आदि भावों का उद्रेक ही रस निष्पत्ति है । नाट्यशास्त्र में जो कहा है—

यथा बीजाद्भवेद्वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं तथा ।
तथामूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः ॥[२]

उसका अभिप्राय यही है कि कविगत रस मूलरूप होता है, उसका रचित

२. नाट्यशास्त्र ६।३८

काव्य वृक्ष रूप होता है; नटों का अभिनय उसका फूल एवं सामाजिक का आस्वाद ही उसका फल है।

डॉ० वाटवे ने भावों का विवेचन आधुनिक मनोवैज्ञानिक तथ्यों से तुलना करते हुए बहुत ही विस्तार पूर्वक किया है। बड़े ही अध्यवसाय के अनन्तर वे यह सिद्ध करने में सफल हो पाये हैं कि चित्त की वृत्तियाँ (सेंटिमेन्ट्स) स्थिर भी होते हैं पर सदा के लिए नहीं। स्थायिभावों के ही सात्त्विक एवं संचारी भाव हुआ करते हैं। स्थायी भाव अपरिपुष्ट होकर व्यभिचारी हो जाता है पर व्यभिचारी स्थायी नहीं हो पाता। उत्साह मूलतः स्थायी भाव नहीं है। शोक एवं विस्मय का स्थायी भाव होना भी सन्दिग्ध है। पर शम विचारणीय है। भरतनिरूपित स्थायी एवं व्यभिचारी भावों की सूची को ये अपर्याप्त एवं सदोष मानते हैं।

डॉ० वाटवे का कथन है कि प्राचीन काल में शरीर और मन के पारस्पपरिक सम्बन्ध का ज्ञान इतना अधिक स्पष्ट नहीं हो पाया था जितना भौतिक विज्ञान की कृपा से आज हो गया है, चिन्त्य है। भारतीय विद्याओं में योग ही मनःशास्त्र माना गया है। चित्त की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियों का जैसा विवेचन योगशास्त्र में उपलब्ध होता है उसको देखते हुए डॉ० वाटवे का उक्त कथन समुचित नहीं प्रतीत होता। आधुनिक विज्ञान की सरणि पर विकसित मनोविज्ञान के आधार पर भरत प्रोक्त भावों एवं रसनिष्पत्ति की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का अध्ययन निश्चित रूप से फलप्रद है। पर भरत को या प्राचीन आलंकारिकों को उसका यथावत् ज्ञान नहीं था ऐसी बात नहीं है। भट्टनायक, धनञ्जय, धनिक एवं अभिनव गुप्त ने रसनिष्पत्ति की मानसिक प्रक्रिया का विशद विवेचन अपनी कृतियों में किया है जो प्राचीन योगशास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित है। प्रस्तुत पुस्तक के 'रसमनोविज्ञान' नामक 'पंचम पक्ष' में उसका निरूपण हुआ है।

विश्वविख्यात दार्शनिक विद्वान् डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त बंगला साहित्य के उच्चकोटि के आलोचक भी थे। साहित्यालोचन पर उनकी पुस्तकें 'काव्य-विचार' एवं 'सौन्दर्यतत्त्व' सुविख्यात हैं। संस्कृत अलंकार शास्त्र के भी वे मर्मज्ञ विद्वान् थे। साहित्यशास्त्रीय विषयों पर उनके विचार बहुत ही स्पष्ट एवं सुलझे हुए हैं।

'रस का अलौकिकत्व' नामक अपने एक निबन्ध में इन्होंने रसानुभूति के स्वरूप का जो निरूपण किया है वह अपने आप में एक महत्त्व पूर्ण 'क्रोडपत्र' है। भट्टनायक का आश्रय लेकर इन्होंने रस एवं आनन्द की एकरूपता तर्क से

सिद्ध की है। इनका तर्क है कि रसात्मक बोध का अच्छा लगना हर प्रकार के अन्य अच्छा लगने से सर्वथा भिन्न इसलिए है कि वह भोजन भट्ट को मिठाई, कृपण को धन एवं दाता को दान देने की तरह इन्द्रिय जन्य नहीं होता क्योंकि ये सब भी अच्छे लगते ही हैं।

इन्द्रियज आनन्द या भोग के प्रकरणों का विचार करते हुए हम उनके अर्थात् उन वस्तुओं का विचार करते हैं जिनको पाकर वह विशेष प्रकार का आनन्द सम्पन्न हुआ होता है। अच्छा लगने की अनुभूति के साथ विषय इस प्रकार अविच्छेद्य ढंग से विद्यमान रहता है कि उसे हटा देने पर अच्छा लगना भी समाप्त हो जाता है। काव्य के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात नहीं है क्योंकि यहाँ वस्तुओं की भीड़ नहीं होती। यहाँ तो विश्राम आनन्द में है, रस में है और है माधुर्य में।

रस वस्तु नहीं है क्योंकि वह अनुभूति-ग्राह्य नहीं अपितु साक्षात् अनुभूति ही है। व्यक्तिगत किसी भी सुखदुःख की स्मृति काव्य रस की नियामक अथवा सम्पादिका नहीं होती। यथार्थ होने पर ही हम उसे स्मृति कहने के लिए बाध्य होते हैं। काव्यजन्य रसानुभूति की यथार्थता का निषेध स्वयं भरत ने ही कर दिया है—

नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्॥[3]

डॉ० दास गुप्त भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त की परम्परा में काव्यत्व के लिये उसमें रस की स्थिति का होना अनिवार्य मानते हैं। उनके अनुसार शब्दार्थ को काव्य-शरीर कहने में कोई आपत्ति नहीं परन्तु काव्य का प्राण-तत्त्व तो रस ही है। शरीर के बिना प्राण की अभिव्यक्ति नहीं होती, इसका अभिप्राय यह नहीं कि शरीर और प्राण एक ही तत्त्व हैं। प्राण के न रहने से शरीर तो केवल एक पाँच-भौतिक विकार है। प्राण जिस प्रकार अपनी शक्ति से अपनी देह का निर्माण कर लेता है उसी प्रकार रस भी अपने ही उच्छ्वास से अपने उपयोगी शब्दार्थ की सृष्टि कर लेता है तथा उसी के सहारे अपने को प्रकाशित भी करता है। अखण्ड रसोपलब्धि आनन्द के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। यह रस और आनन्द एक ही हैं।

गुजराती साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित श्री रामप्रसाद वक्षी ने भी रस-सिद्धान्त के ऊपर बहुत लिखा है। ये श्री आनन्द शंकर ध्रुव के शिष्य रहे हैं और पौरस्त्य एवं पाश्चात्य उभयविध साहित्यालोचन के मर्मज्ञ हैं। 'वाङ्मय-विहार' एवं 'नाट्यरस' नामक इनकी कृतियाँ सुविख्यात हैं। 'आधुनिक कविता

३. नाट्यशास्त्र १।१०७

और रस-मीमांसा' विषय पर दिये गये इनके चार व्याख्यान बड़े ही सारगर्भित हैं ।

साहित्य जगत में आज एक प्रश्न बहुत ही गंभीर स्वर में गूँज रहा है कि क्या रस-सिद्धान्त आधुनिक काव्य का विश्लेषण करने में समर्थ है ? साहित्यकारों के एक बहुत बड़े वर्ग का कहना है कि साहित्यिक समीक्षा की प्राचीन पद्धति अब निर्जीव हो गई है । उससे आधुनिक साहित्य को व्याख्यायित करना विडम्बना मात्र है । वक्षी जी को इस दृष्टिकोण ने इस विषय पर लिखने को प्रेरित किया है । उनकी दृढ़ धारणा है कि साहित्यालोचन का प्राचीन सिद्धान्त आज भी कम उपादेय नहीं है ।

आज रसपरक कविता का अभाव सा है तो इससे क्या हुआ ? वक्षी जी का कहना है कि प्राचीन आलोचना सिद्धान्त में भी कविता को केवल रसात्मक ही नहीं माना गया है । रस तो उसके अनेक प्रकारों में से एक है। वस्तुव्यङ्ग्य में चारुता के आधान की वही शक्ति है जो रस में । अतएव वस्तु एवं अलंकार ध्वनियाँ भी काव्य की उत्तम कोटि में रखी गई हैं । काव्य के रसात्मक होने के प्रति जिनका विशेष आग्रह है वे आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, महिमभट्ट, भोज एवं विश्वनाथ भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि केवल रस को ही काव्य का प्रतिपाद्य मानने से काव्यों का अधिकांश अकाव्य की कोटि में आ जायेगा । उनकी दृष्टि में भी रस के दो स्वरूप होते हैं—संकीर्ण एवं व्यापक । रस का व्यापक अस्तित्व किसी भी प्रकार की कविता में संभावित है। आनन्दवर्धन ने तो मात्र व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता को ही काव्य की उत्तमता का आधायक माना है । आधुनिक काव्य में किसी भावविशेष की व्यंजना तो होती है लेकिन वह अमुक भाव ही है और वह भाव प्राचीनों द्वारा गिनाये गये रसप्रकारों में से किसी एक रस के रूप में अनुभव होता है, ऐसा विधान करना संभव नहीं ।

वक्षी जी का आग्रह है कि प्राचीनों द्वारा किये गये भेदों और प्रकारों को एक तरफ रखकर यदि हम स्वीकार करें कि उत्तम काव्य में चाहे कोई भी मुख्य भाव व्यक्त होता हो जिसे ग्रहण कर रसचर्वणात्मक आनन्द का अनुभव किया जाय तो इससे मूलगत रस-सिद्धान्त को कोई बाधा नहीं पहुँचती । प्राचीनों द्वारा बताये गये भेदों और 'लेबिलों' का स्वीकार अनिवार्य नहीं है । यदि ऐसे लेबिल हम अर्वाचीन काव्य पर भी लगा सकें तभी रससिद्धान्त की यथार्थता सिद्ध होती है और तभी रससिद्धान्त का अर्वाचीन काव्य की समीक्षा में समायोग हो सकता है ।

वक्षी जी का निष्कर्ष कि रससिद्धान्त आज भी काव्य की व्यापक समीक्षा करने में पूर्ण समर्थ है, निर्विवाद सिद्ध है। काव्य की समीक्षा यद्यपि उसकी प्रकृति के अनुरूप ही होती है तथापि वह भी चिन्तन की एक पद्धति है जो किसी भी देश एवं काल के साहित्य पर लागू की जा सकती है। काव्य में देश एवं काल के सन्दर्भ में भावविशेष की प्रवणता आँकी जा सकती है। रससिद्धान्त यहाँ आकर डाइनामिक हो जाता है। आधुनिक काव्य की भाव व्यञ्जनायें प्रायः भावोदय, भाव-सन्धि एवं भावशवलता की कोटि में आती हैं जिन्हें रससिद्धान्त ने पर्याप्त पहले से ही मान्यता दे रखी है।

इधर बीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में भारतीय विश्वविद्यालयों के संस्कृत विभागों में भी सामान्य रूप से साहित्यशास्त्र के अध्ययनाध्यापन की व्यवस्था से भी रस-सिद्धान्त विषयक गवेषणायें हुई हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ० सुशील कुमार डे ने संस्कृत साहित्य एवं साहित्यशास्त्र पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की जिनमें संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, उसकी समस्यायें और सौन्दर्यशास्त्र के रूप में संस्कृत काव्यशास्त्र का अध्ययन, विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उधर बम्बई के पाण्डुरंग वामन काणे ने संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास पर महनीय ग्रन्थ का प्रणयन किया। मद्रास विश्वविद्यालय में कुप्पुस्वामी शास्त्री की अध्यक्षता में संस्कृत साहित्यशास्त्र के अध्ययन की परम्परा का समारम्भ हुआ। जिसके फलस्वरूप डॉ० शंकरन एवं डा० वी० राघवन् ने इस विषय पर अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमें रसों की संख्या पर डा० राघवन् की देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लखनऊ विश्वविद्यालय में डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने 'स्वतन्त्रकलाशास्त्र' के नाम से भारतीय सौन्दर्य-विज्ञान पर अत्यन्त महनीय ग्रन्थ की रचना की जिसमें सामान्य रूप से संस्कृत के सभी आचार्यों के मतों की समीक्षा प्रस्तुत करते हुए विशेष रूप से अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धान्त की व्याख्या प्रत्यभिज्ञा दर्शन की पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत की है। जो अपने आप में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालये के आचार्य बलदेव उपाध्याय ने संस्कृत वाङ्मय की प्रायः सभी विधाओं का समीक्षात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया जिसमें भारतीय साहित्यशास्त्र विषयक कार्य बहुत ही मूल्यवान् है। इसमें संस्कृत के साहित्यशास्त्र के अन्य तत्त्वों एवं प्रस्थानों के साथ रस का भी विशद विवेचन हुआ है।

पहले दिल्ली अनन्तर बम्बई विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के आचार्य डॉ० त्र्यम्बक गोविन्द माईणकर ने वैदिक वाङ्मय में रस तत्त्व की शास्त्रीय मीमांसा का ऊहापोह रससिद्धान्त विषयक गवेषणा के लिए सर्वथा एक नई दिशा का निर्देश किया है जो भरतपूर्व के अन्धतिमिराच्छन्न कालको आलोकित करने का शुभ प्रयास है।

उक्त विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत रस-सिद्धान्त विषयक सामग्री इनके द्वारा किया हुआ शोध कार्य है जो गवेषणा की आधुनिक पद्धति पर सम्पादित किया गया है। इनके प्रयास का मूल्य रस-सिद्धान्त के विषय में प्रकटित नाना प्रकार के मत-मतान्तरों के आज की भाषा एवं शैली में उपस्थापन में है। इन्होंने रसतत्त्व या सिद्धान्त की कोई नई व्याख्या प्रस्तुत नहीं की, न ही उसे अनुपयुक्त ठहराकर तिरस्कृत करने की बात कही, अपितु साहित्यशास्त्र के इस परम गहन विषय को सरल एवं सुबोध ढंग से संस्कृत साहित्य के अध्येताओं के समक्ष समुपस्थापित किया जिससे रससिद्धान्त केवल कुछ पण्डितों के वादविवाद का विषय न रहकर साहित्य के सभी प्रकार के विद्यार्थियों के अध्ययनाध्यापन का विषय हो गया है।

नामपदानुक्रमणी

अंक १७
अंगीतत्त्व १२८
अतिशयितव्यापारजन्य १३
अथर्ववेदसंहिता ६
अद्भुत ६६, ६६, ७४, ७६, ७६, ८२, ८८
अद्भुतरस ६४
अद्वैतवेदान्त ३७
अध्यवसाय ५६, ६५, ८३, ८४
अध्यात्म १, २
अनध्यवसाय ६१
अनात्मवादी ४१
अनिर्वचनीय १५०
अन्तकरण धर्म १६२
अन्यानुमीयमानविलक्षण १५७
अन्वय-व्यतिरेक १०६
अनुकर्ता २२, ४०
अनुकार्य २२, ४०
अनुत्तम १०२, १०३
अनुप्रास २८, ११७
अनुभव ४०, ३२, ४३, ४५, ४६, ४७, ४६, ५३, ५५, ५६, ६०, ८१, ८२, ८३, ८४, १४५
अनुभाव १८, ५०, ६६
अनुभूति ४४, ५२, ६४, ८२
अनुभूतिदशा ६१
अनुभूतिप्रक्रिया ६३
अनुमान २३, ३३, ३४, ४३ ६०
अनुमापक ४३
अनुमिति ४१, ४१
अनुमितिवादी ३४
अनुमेय २३, १६, ३४, ४३
अनौचित्य ४
अन्त:करण १४, १८, २३, २५, ४८, ५६, ६०, ८१, ८४
अपूर्व १२
अपूर्ववाद २२
अप्पयदीक्षित १०७
अभिधा २५, २८, ३०, ३४, ५०
अभिनय ४३, ५८, १०७
अभिनयदर्पण १७
अभिनवगुप्त १३ १६, २१, २३ २४, २८, ४१, ४४, ४७, ५५ ५७, ६१, ६२, ७०, ७२, ७८, ७६, ८८, ८६, ६०, ६३, ६५, ६३, ६५, ४६, ६७, ११३, १२३, १२७, १३०, ११३, १४५, १४६, २४७, १५२, १५५, १५८, १६१, १६३, १६६
अभिनवभारती २२, ४७, ७०, ८६
अभिनिर्वृति १८
अभिनेता ४०
अभिव्यक्ति १२०
अभिव्यंजनाशैली ७
अमर्ष ८०, ८४
अमरुक २१
अरोचकी ३
अर्जुन ४३, ५५, ८१, ८६
अर्थ १, १३, १८, ३३, ३८, ४६, ६०, ६१
अलंकार ८, १२, १३, १४, २०, २१, २४, ३०, ३४, ६७, ७३, १०५, १०६, १३१, १३२

अलंकारध्वनि १०६
अलंकार्य १०५, २११
अलंकृति ११
अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ११०
अलौकिक १४, १६१
अलौकिकता ५०, १४४, १५५, १६०, १६१, १६२
अलौकिकप्रत्यक्ष २४
अवलोक २०, ७५
अवस्था ३८
अश्वघोष १५१
अष्टरसायत्ता ६८
अष्टरसाश्रय ६८
असम्मोह ६५, ८०, ८५
असम्प्रज्ञात ५६
असुन्दर १३६
असंलक्ष्यप्रक्रिया ५७
अस्मिता ५६
अहंकार ७३, ७६, ६१
आत्मचैतन्य ३१, ४१, ५७, १६२
आत्मतत्त्व २३, १२६
आत्मबोध ६७,
आत्मविस्मृति १२२
आत्मवादी ४५
आत्मसाक्षात्कार २५
आत्मा ४, २०, २३, २५, ४४, ५५, ५६, ७६, ६७, ११६, ११७, ११८, १३०, १३१, १३५
आत्मानन्द ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ५५
आत्मानुभव ४५, ४६
आत्मानुभूति २३, २५, २६, ६७
आदिभरत १८
आधुनिकवाङ्मयविहार ७५
आनन्द १२, ४४, ५३, ५५, ५७, ५६, ६४, ८६, ८३, १६२,
आनन्दमयसंवित् २५, ४८, ५७, ६०
आनन्दवर्धन ४, १२, १४, १६, २१, २८, ४४, ७३, ७८, ७८, ६०, ६१, ६३, ६४, ६८, १००, १०५, १०६, १०७, १०६, ११०, १२६, १२०, १२४, १२७, २२८, १२६, १३४, १३७, १३८, १४४, १४८, १६०, १६३, १६८
आनन्दशंकर ध्रुव १७५
आनन्दानुभव ८३
आलम्बन ६३, ८७
आश्चर्य २, ८३, ८८
आस्वाद २३, ४१, ४४, ४७, ५० ५३, ५४, ५६, ६१, ६४, ८१, ८२
आस्वादनकर्ता ५५
आश्रय ८३
इन्द्रिय ५४
इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ५३
इतिहास ४, ८, १३, ५२, १२४, १२६
उज्ज्वल २७, ६४, १०३
उज्ज्वलनीलमणि २६, ७८, १०१, १०४
उत्पत्ति ४१, ७६
उत्प्रेक्षा ३०
उदात्त ८४, ८५
उत्साह १४, १६, ४३, ५५, ६४, ६५, ८१, ८२, ८४, ८८
उद्दीपनविभाव ८४
उद्भट २०, ७१, १०५, १०२, १२८
उद्योत ४, ५, ६
उद्रेक ५४, ६०, ६१
उन्मेष २
उपचिति ३८
उपमा २८, ३०, ११७, १३१
उपमान ६४, ८६
उपलक्षण १२४
उपवृत्तियाँ १६
उपाय २६
उपेक्षा ६३, ६६; ७४, ८२, ८३

उपेय ८, २६
ऊर्जस्वित् ७५, १०५
ऐश्वर्य ८६
ऋग्वेदसंहिता १७
औचित्य ४, ८; ११६
औपचारिक प्रयोग १६२
औषध १४१
कणाद मुनि ३४
कथावस्तु १४४
करुण ६५, ६६, ६८, ७३, ७४, ७६, ८२, ८५, ९६, ९८, ९९, १६७
करुणा ६३, ६४, ६६, ७४,८५
कला ६, १०, ११, १२१
कल्प ११४
कवि विवक्षा ६
कविव्यापार १२८
कान्ति २०, ७२, १०८
कान्तिचन्द्र पाण्डेय १७७
कामधेनु ७२
कामशास्त्र १००
कालिदास ४, ८, १५, ६८, ६९, ८५
काव्यात्मा ११७, ११८, १२२, १२२, १२३, १२७, १३०, १३४
काव्यकौतुक १४५
काव्यजीवित १३०
काव्यपुमान् ११६
काव्यपुरुष १, ४, ११६
काव्यप्रकाश १६, ३२, ४९, ६७, ७७, ७८, १३०, १३७, १६०
काव्यमीमांसा १७, ११६, ११७, १२७, १२९
काव्यवृक्ष १, २
काव्यव्यापार ४४
काव्यशरीर ३, ११५
काव्यसन्दर्भ ४
काव्याङ्ग ११४
काव्यादर्श १२, ३९, ७२, १०८, ११५, १२७, १२८
काव्यानुभूति २३, १४४
काव्यार्थ ५, २३, ४४, ४७, ५२, ५३
काव्यार्थसंभेद ५६
काव्यालंकार १, ३, ७, ७३, ११५
काव्यालंकारसारसंग्रह ७२, १०७
काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ७, १२, १०७,
कुन्तक ६, १२, २२, २५, १२७
कुप्पुस्वामी शास्त्री १७७
कुमारदास ८
कुमारिलभट्ट ३२
कूटस्थ १३
कृशाश्व १७
केशवनारायण वाटवे १७२
क्रोध १९, ३९, ४०, ७५, ८१, ८४
क्षेमेन्द्र १९
क्षोभ १६, ६३, ६६, ७४, ७९, ८२, ८३, ९६
गम्यगमक भाव ३४
गुण २, ८, २०, २५, ५५, ६७, ७३, ८६, १०८, ११५, १३१, १३२
गुणीभूतव्यंग्य १०४, ११०, १११
ग्राहक-प्रमाण १६१
चमत्कार ११, १२, २९, ४१, ४४, १२१, १६७
चमत्कारी ४४
चर्वणा ३२, ४५, ४६, ४७, ५७, ५९, ६०, १६१, १६२, १६३
चारुता ६, ११, २९, ७३, १२६
चारुत्वोत्कर्ष १७०
चिति ५६
चितिशक्ति ५५, ५७
चित्त १८, २३, ४०, ४८, ४९, ५४, ६१, ६४, ६५, ८१, ८३, ८५
चित्तवृत्ति २४, ५६
चित्र १२१, १३१
चित्रकाव्य ११२
चिदानन्दविशिष्ट ४१
चिद्विशिष्टरत्यादि २५, ६२, १६३
चिन्मय २४

चेतना २३, ६२
चैतन्य १३, ४७, ४६, ५१, १००
चैतन्यमहाप्रभु २६, ७६
जगन्नाथ १४, २०, २४, २५, २६, ३५, ४४, ४५, ४७, ५०, ५२, ६८, ७३, ८०, १३७, १३६, १४३
जीमूतवाहन ८५, ८६,
जीव गोस्वामी १०२, १०३
जीवात्मा ८, २५, १३६
जुगुप्सा १६, ६५, ८१, ८७
जोसफ मुण्डश्शेरी २७१
ज्ञप्ति २३, २४, ४०
ज्ञाप्य १५८
ज्ञाप्यता २३
ज्ञाप्यज्ञापकभाव ४०
झलकीकर वामन ६७
तत्त्व १७
तत्त्वाभिनिवेशी ३
तमस् १५, ४२, ४८, ५०, ५६, ६०,
तात्पर्य ३१
तादात्म्यापत्ति १७२
तुर्यावस्था ५८
तुलसीदास ८३
तृप्ति ८, ४८
तृष्णा २५
त्र्यम्बक गोविन्द माईणकर १७८
दण्डी १२, २०, ३०, ३६, ६८, ७२, ६०, १०६, ६३, ११५, १२८
दयावीर ८३
दशरूपक २०, ५५, ७५, ७६, ८१, १४०
दानवीर ८६
दासगुप्त १७५
दास्य १०४
दीप्ति ७३, १००
दु:ख २७, ४३, ५७, ६२, ६३, ६४, ७७, ८२, ६१
दु:खविश्रान्ति ८८
दुरूहत्व १०५
दुष्यन्त ३१, ३८, ४१, ८५
दोष ८, ७३
द्रुति ७३ १००
द्वेष ७७, ८१
धनञ्जय ४२, ४४, ५५, ७४, ७५, ७६ ७८, ८७ ८४, ६२, १४०
धनिक ४३, ४४, ७५, ७६, १२७
धर्मवीर ८६
धीरोदात्त ८४, ८६, ८८
धृति ३७, ८७
ध्रुव १७०, १७१
ध्वनि ८, १२, १०६, १११, ११६, १२७, १३०, १३४, १३५
ध्वनिप्रस्थान २८, ३३
ध्वनिसिद्धान्त २१, २५, ७३, १११
ध्वन्यालोक ४, ५, ६, १२, १६, १०६, १०७, १०२, ११०, १११, ११६, १२१ १२३, १२६, १४६, १५०
ध्वन्यालोकलोचन २२, १२५, २२६
नटसूत्र १७
नन्दिकेश्वर १७
नमिसाधु ७१ ७३
नवम रस ६७
नागानन्द ८५
नागेश ५०
नागोजिभट्ट ३१
नाट्य १, ६, ११, २०, २१, २८, ३७, ४०, ४२, ५०, ५४, ५५, ६४, ६८, ७२, ७४, ७७, ८१, ८४, १३१, १३६
नाट्यवेद ११४
नाट्यशास्त्र १, ३, ५, १०, १७, १८, ३७, ३८, ३६, ४१, ४७, ५८, ६०, ६१, ६४, ६५, ६६, ७०, ७६, ८१, ८७, ८८, १००, ११४, १२२, १३६, १४०, १४५, १५७

नायक ३५, ८४, ८५
नायिका ३५
नायिका भेद १६५
निजसंविद्विश्रान्ति ३७
निरुक्त ११४
निरुक्तकार ११७
निर्विकल्पक १६१
निर्विकल्पकसमाधि २५
निर्वृति ५०, ६०
निर्वेद ७१, ७४ ७७, ७८, ९७,
निष्पत्ति २०,३२, ३८,३९, ४१, ४६, ४७, ४० २०६, १६१
नृत्त १३१
नृत्य १००, १२१, १३१
न्यायदर्शन २८
पण्डितराजगन्नाथ ४४, ६२, ११२, ११३, १२७, १६१, १६२
पदानुपूर्वी ७
परमलघुमञ्जूषा ३१
परामर्श ४१
परिणाम ५६, ५७
परिपोष ८३, ८७
परिभाषा १, ८
परिमितेतर १५५
पर्याय ३७, ४५
पाक ७६
पाठक ४, ४१, ८४ ४५
पाणिनि १७, ११४
पाण्डुरंग वामन काणे ८०, १७७
पुण्य २२, ६३
पुरुषार्थचतुष्टय ७०, ७२
पुष्टि ४२
प्रकाश ४८, ६०
प्रकाशानन्दमय० ४८, ६०, ६१
प्रकृति ३, १९, ४३, ४७
प्रतिपाद्य १२०
प्रतिभा १०
प्रतिहारेन्दुराज ७२, १०६
प्रतीति ३५
प्रतीयमान २४, ४४, १२१, १२३.
प्रत्यक् चैतन्य ११३
प्रत्यक्ष ४५
प्रत्यय ५७
प्रमाता ४६, ४८, १६२
प्रमाण ३५, ४५, ५२
प्रमेय ४६
प्रयोग ४४, ४७
प्रयोजक ४७
प्रवचनभाष्य ४९
प्रवृत्ति ४७, ६८, ८४, ८७
प्रसाद १०८, १६५
प्रस्थान १७, ३८
प्रहेलिका १, ११७, १३१, १३२
प्रीति २७, ७९, १०१
प्रेक्षक ११, ३७, ४१, ४३, ८४, ८५
प्रेयान् ७१, ७५, ७७, ७९, ९०१
बलदेव उपाध्याय १७७
बीभत्स ६५, ६६, ६९, ७०, ७४
बुद्धि ५६, ५९, ६०, ७७, ८२, ८४
बृहस्पति १७६
बोध ४५, ४८, ६०
ब्रह्मा २, ६४, ७०, ९४
ब्रह्मानन्द ४५
ब्रह्मास्वाद १६३
ब्रह्मास्वाद सविध ४५, ४९
ब्रह्मास्वादसहोदर २६, ४४, ११३
भक्ति ७७, ७८
भक्तिरस २६, ४९, ८०, १०१, १०३
भक्तिरसामृतसिन्धु १६, २६, ७९, १०१, १०४
भक्तिरसार्णव २७
भगवद्विषयकरति २८
भट्टतौत २०, ५०, १४५, १४६
भट्टनायक २२-२५, ३७, ३८ ४०, ४५, ४७, ४८, ४९, ५०, ५५, ६०, ६१, ११३, १२८, १३७, १५०, १५२, १६७
भट्टलोल्लट २२, ३१, ३९

भट्टोद्भट ३०, ७२, ७३, १०६,
भय ६५, ७५
भयानक ६५, ६६, ६९, ७४, ८१
भरत १४, १७, १८, २०, ४२, ४४, ६८, ७६, ७८, ८०, ९२, १०१, १०५, ११५, १२७, १४०, १४५, १५०, १६२, १६५
भरतनाट्यशास्त्र १, ११, ४७, ५२
भरतमुनि १४, ५४, ८३
भर्तृहरि ३८
भवभूति ४, ८, १५, ४८, ६५, ९८, १००, १४७
भामह २, ३, ६, ९, ११, १२, २०, २१, ३०, ७३, ७४, ९० १०५, ११५, १२२, १२८,
भाषा शास्त्र २९
भाव ७, ९, ४९, ५३, ०७, ६१, ६२, ८४, ८५, १०१, १३०
भावकत्व २४, ४०
भावक ४३
भावना ४१, ५०, ५२, ५३, ६२, ६३, ६४, ६७, ६९, बे२, ८२, ८३
भावशान्ति १३०, १३१
भक्ति ४१
भोग २१, २३, ३७, ४७, ४८, ४९
भोज ७५, ७६. ७७, ७८, ९१, ९१, ९३, ९४, ११७, १२९, १५७
भोजकत्व २५, ५०, ६०, १५२
मति ८४, ८५
मधुर ७९, ९१, १०१, १०३
मधुररतिभाव १०१
मधुरा रति १०३
मधुसूदनी १०
मन ४३, ४५, ४८, ५४, ५६, ६१, ६४, ६५, ८१, ८४, ८५
मनोभाव ५३, ५४, ५५, ८१
मनोविकार ५६, ६३, ८१
मनोविज्ञान १७२
मम्मट २, २२, ४६, ४७, ६७, ७७, १०५, १२७, १३०, १३१, १३६, १३८, १४२, १४४
महासत्त्व ८७, ८५
महिमभट्ट ३, ६, १६, १८ ३३, ३४, ४३, ४४, ४५ १२०, १२७, १३४, १४१, १४२, १४५, १५६, १५७, १८४
महेन्द्र ८४, ८८
महेशचन्द्र ३२
माणिक्यचन्द्र ४६, ४९
माधुर्य १०८
मानवीकरण ११७
मानसपटल ४, ४५
मानसप्रत्यक्ष ५४, ५६, ८१, ८२
मीमांसा १२, २२
मुख्यरस १०३
मुदित ६३, ६४, ६६, ७४ ८२, ८४
मुद्रालक्षण १४०
मूर्च्छा ४९, ४६
मूलप्रवृत्तियाँ १९
मृच्छकटिक १४०
मेघदूत ४
मेघ्य ६४
मैक्डूगल ८०
मैत्री ६३, ७४, ६५, ७४, ८२, ८३
मोक्ष १४१
यशस्तिलचम्पू १, ६७
युद्धवीर ८६
युधिष्ठिर ८६
योग २, ५३ ५ ५७, ६४, ९६
योगजप्रत्यक्ष २४
योगदर्शन ५६, ५८, ६३ ७४ ८३
योगभाष्य ५७, ५९
योगशास्त्र ५६, ५७, ६२
रंग ८४
रजस् २५, ४१, ४८, ५०, ५१, ६०
रजस्तमोभाव २३
रति १९, ४१, ५४, ८०, ८१, ८३
रतिभाव ३९। ७८

रत्यादि ४०, ४१, ४६, ४७
रत्याद्यवच्छिन्नाचित् २५, ६२, १६३
रत्यादिभाव २३, २७, ४५, ७१, ८२
रमणीयता १, १३, १३६
रस १, ८, १४, १७, २०, २३, २५, २८, ३३, ६५, ३६, ४०, ४६, ५२, ५४, ५६, ५७, ६१, ६२, ७३, ८२, ८४, १०६, १२७, १३०, १५६, १७५
रसगङ्गाधर १०, ३६, ३४, ६८, ११२, ३६२
रसचर्वणा ५७
रसतरंगिणी १६
रसदशा ३६, १२२
रसदोष २०६
रसध्वनि १०६, ११०, ११२, १२३
रसना ४६
रसनीयता १३
रसनिष्पत्ति १४, ४०, ४१, ४६, ४७, ५०, ५६, ७५
रसप्रतीति ३५
रस प्रस्थापनाचार्य ७४
रसपेशल १०६
रसबोध ३४
रसमनोविज्ञान ५२, ७५
रसवत् ३०, ३१, ७१, १०५, १०६
रसवादी १२
रसराज २४, ८१, ८८, ६७ १००
रससमुदाय २१
रससिद्धान्त १६, २२, ६७
रससूत्र १६, ३७, ३८, ४०, ४६
रसादि ३०, ३४
रसादिध्वनि १३०
रसादिबोध ३५
रसानुभव ४५, ५४
रसानुभूति ३७, ४२, ४६, ४७, ५२, ८२, ५६, ५७, ८१, १४७, १५३, १५८
रसानुमिति १५७
रसानुमितिवाद ३३
रसाभास १३०
रसास्वाद ४४, ४५, ४७, ५६, ६०, ६२, ८३
रसिक ४३, ५५
रसोक्ति १०७
रसो वै सः ११३
रस्यमानता ४६
रहस्य ३३, ८३, ८५, १०३
रहस्यत्व १०३
राघवन् (डा० वी०) १७७
राजशेखर ४, ७, १७, २४, ११६, ११७, १२७, १२६
राधा २७
राम ४८, ८५, ८६, ८७, ८६, १४७,
रामचन्द्र शुक्ल ४५, १६६, १६८
रामचरितमानस ८७
रामप्रसाद वक्षी १७५
रामायण ४, १७ २१, ३६
रुद्रट ७१, ७३, ७८, ७८, १२८
रूपक ३०, १३१, १ १
रूप गोस्वामी २६, ७६, १०१, १०४
रौद्र ३६, ६५, ६६, ६६, ७०, ७३, ७४, ८२, ६१, ६६
लघुवृत्ति १०६, १०७
लिङ्गी ३४, ४०
लोक १, २, ३
लोकोत्तर १६६
लोकोत्तरता १५७, १६१
लोकवृत्तानुकरण ४
लोकोक्ति १३१
लौकिक ६
वक्रोक्ति १२, २५, २६, १०७, १३७
वचनविन्यासक्रम ७
वस्तु २१, २८, ३४, ३८, ४३, ५६, ६०, ६५, ६५, ८१, १०६
वस्तुध्वनि १०६
वाक्यपदीप २८
वाग्धेनु २५

वाचस्पतिमिश्र ५७, ५८, ६०
वाच्य १२, २८, २६, ३४
वाटवे (डा० केशवनारायण) १७२, १७३, १७४
वात्सल्य १०४
वामन ३, ७, १२, २०, ७२, १०, १०८, ११६, १२०
वाल्मीकि १५, ७७
वाल्मीकिरामायण ८४
वासना ५३-५५,
विकार १६ ४८, ६४, ८२
विकास १६, १६, ६३, ६५, ७३, ७४, ७६, ८२, ८३, ८५, ८५,
विगलितवेद्यान्तर १४, ५७
विच्छित्ति ११
वितर्क ३६
विनय ६५, ८३, ८४, ८५
विभाव १८, ५०, ८५
विभावनादिव्यापार ५०
विभावादि २२, ३१, ३४, ३६, ४०, ४३, ४४, ४६, ४७, ४८, ६०
विश्रान्ति ४८, ५१, ५८, ७०, ७१
विश्वनाथ १३, २४, २५, २६, ४२, ४४, ४५, ४७, ८४, ११२, ११२, १२०, १३२, १३३, १३३, १६१
विषय ४५, ५६, ५५, ६५
विष्णु ८६
विष्णुपुराण ४६
विस्तार १६, ६३, ३४, ६५, ७४, ७६, ८२, ८३ ८५, ६५
विस्मय ८१, ८७
विक्षेप १७, ६३, २५, ६६, ७४, ७६, ८२, ८३, ६६
विज्ञानभिक्षु ४६
वीर ६४, ६३, ६६, ७०, ७४, ७६
वीररस ८१, ८३, ८६, ८७
वृत्ति ८, ४७, ५८, ६७, ८४
वेद २, ११४
वैचित्र्य १३, १४, ११७
वैदर्भमार्ग १०८, १०५, ११६
वैशेषिकसूत्रकार ३४
व्यंग्य ६, २१, ६२, ५६
व्यङ्ग्यार्थ ३२
व्यञ्जक २१
व्यञ्जना २१, २३, २४, ३२, ४१, १०६, १२०, १२७
व्यञ्जना व्यापार ३१, ३३, ५६
व्यक्ति ६५, ८४
व्यक्तिविवेक १, २, १४१, १४५
व्यक्तिविवेककार ३३, ३४
व्यक्ति वैचित्र्यवाद १६६
व्यभिचारी भाव २०, ४०
व्याकरण ६, १०, ११४, १३५
व्यासभाष्य ५८
शंकुक २६, ३३, ३६, ४०
शकुन्तला ४, ३१, १६८
शक्ति ५६, ८३
शब्द १३, ६३, ३४ ४८
शब्दार्थसम्बन्ध ३३
शर्म १६
शाकुन्तल ८५
शान्त २७, ६६, ७१, ७३, ७५, ७७, ७८, ७६, ६४, १०१, १०४
शान्तरस १६, ७०, ७२, ६५, ६७
शाब्दबोध २८, २६, ३३
शाब्दबोधविषयता ३५,
शाब्दव्यवहार ३५
शाब्दी ३५
शार्ङ्देव ७८
शास्त्र ६, ५०, १२५
शिलालि १७
शिव ८७
शुक्ल १७७
शुक्लजी १६७
शुक्लधर्म ६३
शुचि ६५
शुभाशुभविकल्प

शोक ३७, ४३, ७५, ८१, ८४, ९५
शोभा ११, १२
शौर्य ८४, ८५,
श्रद्धा ७७
श्रीलंका ८
श्रीशंकुक २२, १२२, १५१
श्रुति ११७
श्रृंग ८८
श्रृंगार २४. ४२, ४७, ६४, ६०,
६८, ७०, ७१, ७३, ७४, ७५,
७५, ८२, ८८, ८९, ९०, ९१,
९२ ९३, ९४
श्रृंगारप्रकाश ९१, १०७, १५७
श्रीमद्भागवतपुराण ७४
श्लेष ६७
षाडव ३८, ३९
संकेतग्रह २९, २९, ३१, ३३, ३४
संचारी ८४
संचारभाव १७
संबन्ध ६१
संभोग ४७
संमोह ८४
संज्ञा १३
संयोग ३८, ४०, ४१
संवाद ३१
संवित् ४८, ५९
संस्कार ६१, ६२, ८२, ९५
संस्कृत ५१८
सचेतन ४४
सत्त्व २५, ४१, ४८, ५० ६०, ६१,
६२, ६४, ६९, ८५
सत्त्ववृत्ति ५९
समाहित १०५
सरस्वती ४, ११६,
सविकल्पक १६१
सहकारी ८४
सहृदय ८, २५, ४०, ४३, ४४, ५२,
५४, ५८, १०८, १११
समर्थसूत्रभाष्य ३१
समवायिकरण २२, १५३
सम्प्रज्ञात ४९, ५१, ५८, ६०, ६४
सहृदयश्लाध्य १२३
सहृदय सामाजिक ४८, ५० ५४, ६०
सांख्यदर्शन ४९
सांख्यसूत्र ४९
सांख्यसूत्रकार ४९
साक्षात्कार ५०, ५१, ५६
साक्षिभास्य ०४३, १६२ १६३
सात्त्विक २०. ७५
साधारणीकरण २२, २३, २५, ४०,
४५, ४७, ४८, ५०, ५०, ६०,
६१, १४३, १५१, १५३, १६६,
१६७
साध्यसाधनभाव ३३
सामाजिक ४० ४३, ५५
सारबोधिनी ५०
सारभूत १२३, १२५
सारस्वतेय ११६
साहित्यदर्पण ५, ०६, १६, ५०,
५४, ११०, १११, १२१, १२१
साहित्य विचार १७०
सीता ८, ४८, ८७, ९७, ९९
सुख ६५, ७७, ८२,
सुखास्वाद ४३
सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त १७४
सुशीलकुमार दे १७७
सूक्ष्मशरीर १११, १५८
सूत्र ३४
सूर्य २३
सौन्दर्य ६, ७, १०, ११, १२, ३२,
१३९, १७४
सौन्दरनन्द ७६
स्थायीभाव ३८, ४१, ७५, ८४, ८७
स्व २३, ४४
स्व संवेदन ५७, १५५
स्वप्रकाश ४
रसभावोक्ति १२, २५, १०७
स्वसंवेदन २५; ४६, १६१

स्वहृदय ५६
स्वाद २४ ४३, ४५, ४६, ४७
स्वादु ४४
स्वानन्द ३
स्वात्मपरामर्श २३, २४, ४५, ६२,
 ९३, ९७, १००, १६१
स्वात्मा ४१, ४६
हर्ष ७५
हास ७५, ८१ ८८
हास्य ६४ ६६, ६८, ७४, ७६, ७९.
हितोपदेश १०२
हृदयदर्पण ४१, १५०
हेमचन्द्र ४५, ११२

रससिद्धान्त के अनालोचित पक्ष

UNREVEALED ASPECTS OF RASA THEORY

ब्रजमोहन चतुर्वेदी

Ajanta Books International
1-U-B, Jawahar Nagar, Bungalow Road
Delhi-110007